- जयध्वज प्रकाशन समिति ग्रन्थमाला : पुष्पांक—८
- ग्रन्थ :
  जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ
- ग्रंथकार :
  आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज

- संस्करण : प्रथम
  प्रति : ११००
  प्रकाशन :
  वीर संवत् : २५०७
  विक्रम संवत् : २०३६
  ईस्वी सन् : १९७९

  मूल्य : १५ रुपये
- प्रकाशक :
  जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास

- प्राप्ति स्थान
  पूज्य श्री जयमल जैन ज्ञान भण्डार,
  पीपाड़ शहर, राजस्थान

- मुद्रक : निर्मल कम्पोजिंग एजेंन्सी, ७२७-४८ जूड़ बाग श्री-नगर देहली-३५ द्वारा मोहन प्रिंटिंग कार्पोरेशन में मुद्रित ।

समर्पणम्

श्री सद्गुरो !
कवि-मुनीश्वर-जीतमल्ल !
स्वामिन् !
त्वदीय चरणे समुदार्प्यते या,
सैषा कृतिस्तव कृते प्रतिभाति तुच्छा,
मन्तोपपीपमयते,

किमु,
मे
न
चेत्. ॥

जीतमल्लाचार्यः

विषयानुक्रमणिका

नम्र निवेदन

जैसलमेर, पाटण, पीपाड, खम्भात आदि अनेक जैन भण्डारों में सुरक्षित, प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा रचित, ग्रथित एवं लिखित विशाल, अमूल्य एवं ज्ञानगर्भित वाङ्मय पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो सहज ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि यदि वे सन्तात्मा सृष्टि पर अवतरित न हुई होतीं तो धर्म की क्या दशा होती ! आर्य संस्कृति कैसे स्थिर रह पाती और सभ्यता पीढ़ी दरपीढ़ी कैसे पनप पाती ? सभ्यता और सुसंस्कृति की परिभाषा क्या है ? जिस जाति या कौम के पास जीवन की अनुभूतियों का भण्डार, अपना साहित्य होता है वह जाति सभ्य और सुसंस्कृत कहलाती है और जो इससे हीन है वह असभ्य और असंस्कृत रह जाती है। हमारे पूर्वज सन्त महर्षियों ने चाहे वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के थे, हमें मात्र सभ्य और सुसंस्कृत ही नहीं बनाया किन्तु ग्रन्थों के रूप में अनन्त ज्ञान की निधि प्रदान करके हमें मानव-संस्कृति के उच्च धरातल पर बिठाया। वर्तमान और भविष्यन् काल की मानव-पीढ़ी उनके ऋण को अनन्त काल तक नहीं चुका सकेगी।

हमारा यह दुर्भाग्य है कि हम अपने पूर्वज महर्षियों के उत्तराधिकारी के रूप में अपने कर्तव्य का पालन न कर सके। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का पठन पाठन तो दूर रहा हम तो उनको सुरक्षित भी न रख सके, उनका शत प्रतिशत प्रकाशन भी न करा सके और वर्तमान पीढ़ी को उनके दिव्य ज्ञान की ज्योति से आलोकित भी न कर सके। जो जाति ज्ञान के आलोक की उपेक्षा करती है, वह संसार की विकासशील संस्कृतियों के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर प्रगति-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकती। वह पिछड़ जाती है। आज के युग में पिछड़ जाना पतन की, ह्रास की, बुद्धिहीनता की और प्रमाद की निशानी है।

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

ज्ञान से बढ़ कर संसार में कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है। ज्ञा

साहित्य का भी आपने गम्भीर अध्ययन, चिन्तन और मनन किया है। उक्त ज्ञान के मनन-चिन्तन-सलिल से सिंचन पाकर विकसित हो रहा है यह ज्ञान-प्रसून "जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ" समष्टि के रूप में यह एक प्रसून है किन्तु व्यष्टि के रूप में जिज्ञासुओं को इस एक में अनेक प्रसून मिलेंगे जो अपनी सौरभ से न केवल जिज्ञासु जीवों को किन्तु दिग्-दिगन्त के मण्डल को सुरभित कर देंगे—ऐसी मेरी धारणा है।

ज्ञान तो वैसे स्वतः पावन होता है किन्तु अनुभूति प्रधान एवं आचार प्रधान सन्तात्माओं में उसका और निखरा हुआ रूप उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ के पठन से यह स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी महाराज एक आचारपूत और ज्ञान-पूत, प्रतिभासम्पन्न सन्तात्मा हैं। 'जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ' नामक ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय पर उनके प्रखर पाण्डित्य की, तार्किक शक्ति की, विशाल एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण की तथा सिद्धान्त-स्थापना की गहरी छाप है। सम्पूर्ण ग्रन्थ पन्द्रह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम से अन्तिम तक के अध्यायों में क्रमशः—भिन्न-भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से तत्व विश्लेषण, जैन धर्म की प्राण अहिंसा का अन्तर्मुखी गहन विवेचन, सत्य के भगवत् स्वरूप का निरूपण, अस्तेय की महिमा और स्तेय के दुष्परिणाम की रूपरेखा, ब्रह्मचर्य की गरिमा और अब्रह्मचर्य की लघिमा का दिग्-दर्शन, अपरिग्रह से जीव एवं जीवन का उत्थान और परिग्रह से विश्वव्यापी विषमता के प्रसार की [illegible], पापप्रवृत्ति निरोधक संयम की साधना का स्वरूप, जीवतत्व को प्रभावित करने वाली कर्मसत्ता का सांगोपांग विवेचन, मनो-वैज्ञानिक पद्धति से लेश्या का विश्लेषण, दान के प्रकारों का तारतम्यपूर्ण अध्ययन, सृष्टि-सर्जन जैसे गूढ़ एवं जटिल विषय पर अनेक प्राचीन दार्शनिकों के दृष्टिकोण की भिन्नता एवं जैन दर्शन द्वारा उसका [illegible] तथा वैज्ञानिक समाधान, धर्म और आत्मा के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की रोचक चर्चा, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र [illegible] रत्न की आध्यात्मिक जीवन में महनीयता एवं [illegible], मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य मोक्ष का तुलनात्मक दृष्टि [illegible]

निरूपण—महामनीषी, तर्कशिरोमणि, आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी महाराज सा० ने इतने सुन्दर, सरल, सजीव शब्दों में किया है कि जिसकी विद्वान् जिज्ञासु मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करेंगे। प्रत्येक अध्याय में जैनागमों के एवं जैनेतर शास्त्रों के उद्धरण आचार्य प्रवर की गम्भीर विद्वत्ता के प्रतीक हैं और यत्र तत्र प्रसंगानुकूल उनकी तर्कपूर्ण मण्डनात्मक शैली उनकी प्रखर प्रतिभा की परिचायिका है।

एक महात्मा की प्रतिभा से प्रसूत और पून 'जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ' शीर्षक ग्रन्थ निश्चित रूप से न केवल धार्मिक क्षेत्र में और दार्शनिक क्षेत्र में ही विद्वानों और तत्वचिन्तकों की प्रशस्ति प्राप्त करेगा किन्तु जैन धर्म की मौलिक मान्यताओं के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को भी पूर्ण करेगा। हमे पूर्ण आशा है कि परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर जी भविष्य में भी इस प्रकार के साहित्य-प्रसूनों की सुरभि से जैन-वाङ्मय के प्रांगण को सुरभित करते रहेंगे।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
संस्कृत विभाग,
२५-६-१९७६

डॉ० धर्मचन्द जैन
एम०ए०, पी-एच०डी०

किसी वस्तु को एकान्त रूप से सत् माना जा सकता है और न ही एकान्त रूप से असत् ही। वस्तु न तो एकान्त रूप से सत् और असत् ही है, और न ही एकान्त रूप से सत् और असत् दोनों से अनिर्वचनीय है। प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने के कारण उसे ऐकान्तिक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। जैन दर्शन का यह विशिष्ट दृष्टिकोण अधिक युक्तिसंगत, मौलिक और वैज्ञानिक है, उपर्युक्त चार दार्शनिक पक्षों से।

जैन दर्शन में द्रव्य और तत्व एकार्थवाची है। जैन दर्शन में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये नव तत्व माने गये हैं। जीव द्रव्य की व्याख्या में जीवकी गणना द्रव्य और तत्व दोनों में की गई है। संसारी जीव को जैन दर्शन में देह प्रमाण स्वीकार किया गया है। ऐसी मान्यता भारत के किसी अन्य दर्शन की नहीं। यह केवल जैन धर्म की मौलिक उद्भावना है।

इसके अतिरिक्त पृथ्वी, अप्, तेजस् आदि द्रव्यों में वैशेपिकादि दर्शन भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणुओं की सत्ता मानते हैं। इसके विपरीत जैन दर्शन की मान्यता है कि पुद्गल के पृथक्-पृथक् परमाणु नहीं होते। सभी परमाणुओं में रूप, गन्ध, रस, और स्पर्श की योग्यता विद्यमान रहती है। जैन दर्शन में यद्यपि परमाणुओं की अनेक जातियां हैं तथापि सभी परमाणुओं में अपने-अपने वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की स्थिरता है। जैन दर्शन में परमाणु की एक ही जाति स्वीकार की गई है। एक द्रव्य के परमाणु में दूसरे द्रव्य में परिणत होने की सत्ता होती है। उदाहरण के लिए पानी का परमाणु अग्नि के परमाणु में परिवर्तित होना देखा जाता है। जैन दर्शन का यह तात्विक विवेचन वर्तमान विज्ञान की आधार शिला पर खरा उतरने के कारण मौलिक है और विशिष्ट है।

ज्ञान के क्षेत्र में भारत के अन्य दर्शन इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। इसके विपरीत जैन दर्शन इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानकर सीधे आत्मा से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करता है। पौद्गलिक वस्तुओं का ज्ञान जो [illegible] इन्द्रियों की सहायता से होता है, उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष की संज्ञा से [illegible] ज्ञान भी माना गया है और अपौद्गलिक वस्तुओं का ज्ञान जो

कि सीधा आत्मा से उत्पन्न होता है, उसे तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना गया है। फिर भी पौद्गलिक ज्ञान, पौद्गलिक साधनों (इन्द्रियों) से होने के कारण आत्मा से परोक्ष भी माना है। इसी प्रकार अपौद्गलिक ज्ञान शास्त्र के द्वारा भी हो जाने से उसे भी परोक्ष मान लिया गया है। इस प्रकार ज्ञान के विषय में जैन दर्शन का अनैकान्तिक दृष्टि-कोण है।

जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त दृष्टि का सिद्धान्त जैनेतर दर्शनों में अपनी पृथक् विशेषता रखता है। मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य है—शाश्वत शान्ति। शाश्वत शान्ति, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक्चारित्र के बिना संभव नहीं है। सम्यक् दर्शनादि की उपलब्धि शुद्ध बोध के बिना सम्भव नहीं और शुद्ध बोध के लिए अनेकान्त दृष्टि अनिवार्य है। शुद्ध बोध को यदि हम मुक्ति का साधन मान लें तो अनुचित न होगा। "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" की उक्ति में यदि हम ज्ञान का अर्थ शुद्ध बोध कर लें तो अधिक उपयुक्त होगा। ज्ञान के भी दो रूप हो सकते हैं—अविकृत और विकृत। अविकृत ज्ञान में सहिष्णुता, नम्रता उदारता और निष्पक्षता के गुण अपेक्षित हैं। इन गुणों से युक्त अविकृत ज्ञान ही आत्म विकास की ओर अग्रसर करता है। यदि ज्ञान विकृत है, उसमें असहिष्णुता उद्दण्डता, संकीर्णता और पक्षपात के दोष हैं तो उससे आत्मा उत्तरोत्तर अधोगति को ही प्राप्त होता जाता है। जैन दर्शन का अनेकान्त-सिद्धान्त ज्ञान को विकृत होने से रोकता है। अनेकान्त-दृष्टि से ज्ञान वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर बनता है। जहाँ दूसरे दर्शन किसी सैद्धान्तिक बात को लेकर परस्पर विवाद करते हैं—कलह करते हैं और घातक संघर्ष तक में उलझ जाते हैं, वहाँ जैन दर्शन का अनेकान्तवाद अपनी उदारतापूर्ण, नम्रतापूर्ण, सहिष्णुतापूर्ण और निष्पक्ष दृष्टि से सबमें समन्वय स्थापित करते हुए टूटे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरोता है। जैन दर्शन का अनेकान्तवाद इस दृष्टि से अन्य दर्शनों की अपेक्षा अपनी विशिष्ट सत्ता स्थापित करता है।

अहिंसा :

निस्सन्देह अहिंसा के सिद्धान्त को सभी धर्माचार्यों ने किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। मनु महाराज तो "अहिंसा

परमो धर्मः” मानते ही हैं। गीता में भी अनेक स्थलों पर बार-बार कहा गया है :—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
गीता ६, ३१

समोऽहं सर्वभूतेषु। वही, ९, २९
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
वही, १३, २७

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
वही, ६, ३२

अर्थात्—सब प्राणियों में ईश्वर नाम की शक्ति समान रूप से विद्यमान है, अतः सबको अपने समान ही समझ कर उनको पीड़ा नहीं पहुंचानी चाहिये।

तथागत के अनुयायी यद्यपि वर्तमान युग में मांसभक्षक बन गये हैं किन्तु तथागत बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में अपने युग के अनुयायियों से कहा था :

अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये।

अर्थात्—प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह सभी प्राणियों को अपने समान ही समझकर न उन्हें मारे और न ही किसी और द्वारा मरवाने की आज्ञा दे।

जैनागम में भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है :—

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।
दशवैकालिकसूत्र, ४, ९

अर्थात्—संसार भर के प्राणियों की आत्मा को अपनी ही आत्मा के समान समझो।

यह तो हुआ वैदिक और जैन दर्शन में अहिंसा के विषय में सामान्य चिंतन, किन्तु अहिंसा का जीवन और जगत् की गहराई में

उतर कर जितना सूक्ष्म विवेचन जैन धर्म में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि हिंसा प्रधान धर्मों में भी जो अहिंसा-तत्व का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है वह जैन धर्म में प्रतिपादित अहिंसा तत्व की ही देन है। अहिंसा तत्व का तो जैन धर्म से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही समझना चाहिए। यदि अहिंसा तत्व को जैन धर्म की आत्मा मान लिया जाय तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि अहिंसा के तत्व को जैन धर्म से निकाल दिया जाय तो जैन धर्म में अवशेष रह ही क्या जायेगा? पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। केवल भारतीय धर्मों के लिये ही नहीं अपितु विश्व के लिए भी अहिंसा का सिद्धान्त जैन धर्म की देन है। जैन धर्मावलम्बियों के ही प्रयत्नों से आज विश्व के कोने कोने में अहिंसा के प्रचार की अनेक संस्थाएँ खुल चुकी हैं।

अहिंसा तत्त्व को दृष्टि में रखते हुए जैन धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सासारिक जीवन एवं आध्यात्मिक जीवन-दोनों के विकास एवं सफलता के लिए अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। चाहे श्रमण हो या श्रावक दोनों को आगम विहित व्रतों के आचरण के लिए सर्वप्रथम अहिंसा व्रत का ही नियम लेना होता है। यद्यपि श्रमणों और श्रावकों के अहिंसा-पालन में अल्पता और महत्ता विद्यमान है किन्तु अहिंसा की प्राथमिकता में कोई अन्तर नहीं है। अहिंसा जैन धर्म का प्राण है और उसका जैन धर्म में उच्चतम स्थान है, इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि अन्य व्रतों या नियमों की जैन धर्म में उपेक्षा की गई है। व्रत तो सभी उपादेय हैं किन्तु अहिंसा व्रत को अन्य सभी व्रतों की आधार शिला माना गया है।

दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन के अनुसार :—

अहिंसा-गहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवति।

अहिंसा के अतिरिक्त जितने भी व्रत हैं वे सभी अहिंसा के स्तम्भ पर टिके हुए हैं। यदि सत्य की पृष्ठभूमि में अहिंसा की भावना नहीं होगी तो सत्य कैसे अपनी सत्यता प्रकट कर सकेगा? बिना अहिंसा की भावना के अचौर्य व्रत का पालन कभी भी सम्भव नहीं। ब्रह्मचर्य का त्याग अनेक प्राणियों की हिंसा है, अतः ब्रह्मचर्य का पालन भी

विना अहिंसा की भावना के सम्भव नहीं। परिग्रह की भावना दूसरों के शोषण पर आधारित है अतः जब तक अहिंसा की भावना मन में जागृत नहीं होगी तब तक अपरिग्रह व्रत का पालन भी नहीं किया जा सकता। जैन धर्म में अहिंसा का सिद्धान्त आधार भूमि है और शेष सभी व्रत, नियम, विधि-विधान आधेय हैं। इसलिये हमने अहिंसा को जैन धर्म की आधार शिला बताया है। सम्भवतः इसी भावना से किसी विद्वान ने कहा है :—

अहिंसा भूतानां जगति,
विदितं ब्रह्म परमम्॥

अर्थात्—संसार में प्राणियों की हिंसा न करना ही सबसे बड़ा पर ब्रह्म है।

अहिंसा व्रत का जितना सूक्ष्म विवेचन जैनागमों में उपलब्ध है उतना अन्यत्र नहीं। जैनाचार्यों ने इतर आचार्यों की अपेक्षा अहिंसा तत्व की बड़ी गहराई और सूक्ष्म दृष्टि से छान बीन की है। उन्होंने संसारी प्राणियों को अहिंसा-व्रत का पालन करने के लिए ऐसे मूल्यवान सुझाव दिये हैं जिनके सावधानी से पालन करने से मानव महान् कर्म बन्धन से छुटकारा पा सकता है। आगम का कथन है कि :—

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधई॥

दशवैकालिक सूत्र, ४, ८

अर्थात्—अहिंसा-व्रत के साधक को चाहिये कि वह सावधानी से चले, सावधानी से ठहरे, सावधानी से बैठे, सावधानी से सोये, विवेक से भोजन करे एवं विवेकपूर्ण वाणी बोले। ऐसा करने से वह महान् बड़े पापकर्म के बन्ध से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

एक आचार्य ने तो हिंसाविरति पर बल देते हुए बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखा है :—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा नवा वधः॥

राजवार्तिक, ७, १३

अर्थात्—जो प्रमादी या पागल आत्मा किसी दूसरे प्राणी का हनन करता है वह अपना हनन पहले ही कर डालता है। घातक की आत्मा घात करने से पूर्व ही पाप से लिप्त हो जाती है और घोर कर्म बाँध लेती है।

आचार्य भद्रबाहु के शब्दों में भी अपना आत्मा ही वास्तव में अहिंसक है तथा आत्मा ही हिंसक—

> आया चेव अहिंसा आया हिंसति निच्छओ एसो।
> जो होई अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो॥
>
> ॥ ७५४ ॥

अर्थात्—अहिंसा और हिंसा की परिभाषा करते समय यह एक निश्चित सिद्धान्त समझना चाहिए कि आत्मा ही अहिंसा से और आत्मा ही हिंसा से युक्त है। जो आत्मा विवेकशील है, जागृत है, सावधान है और प्रमादहीन है—वह अहिंसक आत्मा है और जो इसके विपरीत विवेकहीन है, जागृत नहीं, सावधान नहीं है एवं प्रमादाच्छन्न है वह हिंसक आत्मा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा तत्व का जितना सूक्ष्म स्वरूप एवं विवेचन जैनागमों में प्रस्तुत किया गया है उतना जैनेतर दर्शनों में दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि जैन धर्म अहिंसा तत्व के वैशिष्ट्य के कारण भी जैनेतर धर्मों में अपना पृथक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

गुणपूजा :

> गुणाः पूजास्थानं गुणिषु,
> न च लिंग न च वयः॥

अर्थात्—किसी भी व्यक्ति की पूजा उसके गुणों के कारण होनी चाहिए, आयु और बाह्य चिन्हों के कारण नहीं। जैन धर्म इस उक्ति में अक्षरशः विश्वास करता है। वैदिक संस्कृति में मुख्य रूप से व्यक्ति पूजा में ही विश्वास किया जाता है। व्यक्ति पूजा में, जिसकी पूजा की जाती है उसे ही सर्वगुण सम्पन्न मान लिया जाता है। उसकी स्तुति में उसके व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, गुणों की नहीं। व्यक्ति अपने आप में पूज्य माना जाता है, गुणों के कारण नहीं।

ब्राह्मण इसलिए पूज्य माना जाता है कि उसका जन्म ब्राह्मण के घर में हुआ है। वह सदाचारहीन हो तो भी पूजा का पात्र है। इसके विपरीत जैन धर्म सदा से गुण पूजा का पक्षपाती रहा है। जाति, कुल वर्ण और वाह्य वेप के कारण किसी भी व्यक्ति के महत्व को स्वीकार नहीं किया जाता। किसी भी दुराचारी, अत्याचारी और व्यभिचारी को उच्च कुल में जन्म लेने के कारण पूज्य समझ लिया जाय और नीच कुल में जन्म लेने के कारण किसी सदाचारी, परोपकारी और दयाशील व्यक्ति को भी घृणित मान लिया जाय तो इससे सदाचार और सद्‌गुणों का घोर अपमान भी होगा एवं सांस्कृतिक दृष्टि से मानवता कलंकित भी होगी। इसके अतिरिक्त व्यक्ति पूजा को अंगीकार करने से दुराचार सदाचार से ऊंचा उठ जायेगा, ज्ञान पर अज्ञान विजय प्राप्त कर लेगा और तमोगुण सत्वगुण को पराजित कर देगा। ऐसी स्थिति में मानव अपने आपको कैसे सुसंस्कृत कहला सकेगा? इसी कारण से "संसार में पूज्य किसको मानना चाहिये"—इसका विवेचन करते हुए आगमकार कहते हैं :—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू।
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू॥
विआणिआ अप्पगमप्पएणं।
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

दशवैकालिक सूत्र, अ० ६, उ० ३, गा०।

अर्थात्—कोई भी गुणों के कारण ही साधु माना जाता है एवं दुर्गुणों के कारण ही असाधु या दुष्ट समझा जाता है। आत्मा के द्वारा ही जो आत्मा के गुणों को पहचान लेता है तथा राग द्वेष में जिसकी वृत्ति सम है, वही मानव पूजा के योग्य है।

गुणपूजा की मान्यता के कारण ही जैन संस्कृति में जो पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है उनमें किसी व्यक्ति विशेष का नाम एवं [illegible] नहीं है, अपितु उन सभी महापुरुषों को नमस्कार किया गया है, जिन्होंने अपना सारा जीवन स्वात्म कल्याण के लिए एवं प्राणी मात्र के [illegible] के लिए यापन किया है तथा कर रहे हैं।

जैन [illegible] में "देव" शब्द से दो प्रकार के व्यक्तियों का बोध [illegible] और [illegible] सम्पत्ति के धनी और आध्यात्मिक सम्पत्ति के धनी।

वैदिक परम्परा में प्रथम कोटि के देव आराध्य माने जाते हैं किन्तु जैन संस्कृति में उनका विशेष महत्व नहीं है। जैन संस्कृति में तो आध्यात्मिक सम्पत्ति वाले देव ही आराध्य हैं। यह आध्यात्मिक देवत्व भी किसी को जन्म से ही प्राप्त नहीं हो जाता। ऐसा आत्मा जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह महाव्रतों के पालन द्वारा रागादि के त्याग द्वारा और तपस्या द्वारा पूर्ण आत्मविकास की दशा को प्राप्त हो जाता है, वही पूज्य माना जाता है। वैदिक धर्म की अपेक्षा जैन धर्म में पूज्य की पूजा का उद्देश्य भी भिन्न प्रकार का है। वैदिक संस्कृति में पुजारी आराध्य की पूजा इस लिये करता है कि आराध्य प्रसन्न हो कर अपनी कृपा द्वारा पुजारी को सब प्रकार के सुख साधनों से सम्पन्न कर दे, किन्तु श्रमण संस्कृति का पुजारी आराध्य को अपने हृदय में इसलिए उतारता है कि वह आराध्य के गुणों का आधान अपने में कर सके। प्रथम संस्कृति से सामन्तशाही का जन्म होता है और दूसरी जननी है गुणपूजा की। जैन धर्म में गुणपूजा को उपादेय माना गया है एवं व्यक्ति पूजा को हेय। शास्त्र में उल्लेख है कि भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गणधर गौतम को भगवान् के व्यक्तित्व से महान् मोह हो गया था। गौतम गणधर के अनेक शिष्य प्रशिष्य त्याग, तपस्या द्वारा कैवल्य प्राप्त करके मुक्त हो गये थे, किन्तु गणधर गौतम महावीर के व्यक्तित्व से मोह के कारण मुक्तावस्था प्राप्त नहीं कर रहे थे। जब तक उनका मोह दूर नहीं हुआ तब तक वे कैवल्य-प्राप्ति से वंचित ही रहे। भगवान् महावीर का निर्वाण होने के पश्चात् ही उनका मोह दूर हुआ और उन्हें कैवल्य की उपलब्धि हुई। इससे पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि जैन धर्म में गुणपूजा का सिद्धान्त भी उसकी अपनी विशेषता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य अनेक धर्मों में देवी देवों की स्तुति इस लिए की जाती है कि स्तुति के परिणामस्वरूप धन धान्य की प्राप्ति हो वहाँ स्तोता अल्प से सन्तोष नहीं करता किन्तु अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है। उसमें संग्रह की भावना है। कहीं कहीं तो स्तोता दूसरों का स्वत्व छीनकर भी अपना घर भरने की इच्छा करता है जैन धर्म की मान्यता इसके सर्वथा विपरीत है। इस मान्यता के अनुसार मानव जितना अधिक से अधिक संग्रह करने में लिप्त होता है उतनी अधिक उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है। इससे न केवल उसकी

आत्मा का विकास ही रुक जाता है अपितु एक स्थान में संग्रह होने से सामान्य जन समाज में धन धान्य का समवितरण भी रुक जाता है। इसी से पूंजीवाद का जन्म होता है और उसी की प्रतिक्रिया के रूप में खूनी क्रान्तियाँ होती हैं। साम्यवाद और समाजवाद का जन्म ऐसी संग्रह की भावनाओं का ही परिणाम है। प्राचीन काल में जैन धर्म "निग्गंठे पवयणे"—निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा जाता था। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—गांठ खोल देना। गांठ खोल देना ही अपरिग्रह है। भगवान् महावीर निर्ग्रन्थ थे, क्योंकि वे कुछ भी गांठ बांध कर नहीं रखते थे। आवश्यकतानुसार अल्प ही लेते थे और आत्मचिन्तन में लीन हो जाते थे। उनका सभी को उपदेश था—निर्ग्रन्थ बनो। दूसरे शब्दों में अपरिग्रह-व्रत धारण करो। जो व्यक्ति गांठ नहीं रखता वह स्वयं को तो सुखी बनाता ही है, किन्तु दूसरों के सुख का भी कारण बनता है। जो ग्रन्थि है वही तो बन्धन है और जो बन्धन है वही परिग्रह। आत्मा को पाश में जकड़े रखने वाला परिग्रह ही है।

इसीलिए तो प्रश्न व्याकरण सूत्र में उल्लेख है :—

नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो।
अत्थि सव्वजीवाण ॥

भगवान महावीर ने तो स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी कि :—

चित्तमन्तमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणइ, एवं दुक्खाणू मुच्चई ॥

—सूत्रकृतांग, १, १, १, २

अर्थात्—संयम और साधना के पथ पर चलने वाला साधक यदि स्वयं किसी प्रकार का परिग्रह रखता है, दूसरों को रखने की अनुमति देता है तो कभी भी सांसारिक दुःखों से मुक्ति नहीं पा सकता।

जैन धर्म में प्रतिपादित अपरिग्रह और परिग्रह के विश्लेषण से और उसे जीवन में उतारने के महत्व और बल से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन संस्कृति का अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त जैनेतर दर्शनों से अपनी एक [illegible] विशेषता और मौलिकता लिये हुए है।

[illegible] इस लेख में जैन धर्म की कतिपय विशेषताओं [illegible] प्रस्तुत की जा सकी है। अवशिष्ट पर किसी अन्य अवसर पर पुनः प्रकाश डाला जायेगा।

अहिंसा दर्शन

सर्वप्रथम संस्कृति की अन्तरात्मा पर प्रकाश डालना अपेक्षित है। वास्तव में संस्कृति को मानवता की आधारशिला कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। संस्कृति आत्मा से सम्बन्ध रखती है, आत्मिक उत्थान का प्रतीक है, आत्मिक उत्कर्ष की सीढ़ी है, और आत्म दर्शन की प्रक्रिया है। इसके विपरीत "सभ्यता" शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये और विलासमय साधनों की उपलब्धि के लिये किये गये प्रयत्नों का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में संस्कृति पारलौकिक तत्वों की द्योतक है और सभ्यता ऐहलौकिक एषणाओं की जननी। सभ्यता मनुष्य के मनोविकारों को अभिव्यक्त करती है और संस्कृति उसकी आत्मा को अभ्युत्थान की ओर ले जाती है। निःसन्देह दोनों का अस्तित्व एक ही समाज या राष्ट्र में हो सकता है और है भी, किन्तु जिन देशों में संस्कृति को सभ्यता की दासी बना दिया जाता है वहाँ सामाजिक वैषम्य और राष्ट्रव्यापी विप्लवों का होना अवश्यभावी है। आज के युग का सारा सामाजिक और राजनैतिक वातावरण इसी प्रकार का है।

व्यापक रूप से फैली हुई विषमता, शोषण और अशान्ति, सब सभ्यता के संस्कृति पर छा जाने के ही परिणाम हैं। सभ्यता के पोषक तत्वों ने मानव को दानव बना दिया है। उच्च शिक्षा प्राप्त आज का मानव भी स्वयं को सभ्य बनाने के लिये संग्रह के निमित्त भ्रष्टाचार के गर्त में गिर रहा है। हम इस बात का संकेत आरम्भ में कर आये हैं कि सभ्यता का सम्बन्ध शारीरिक सुख साधनों के साथ है और संस्कृति का आत्मा के सात्विक गुणों के विकास के साथ। यदि हम जीवन को आनन्दमय बनाना चाहते हैं तो हमें आत्मिक विकास के

देना चाहिये। इसी को शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म कहते हैं। ज्ञानियों ने जगत को भली भांति देखकर ऐसा कहा है।"

"जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा।
अरिहंता भगवन्ता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति...
एस धम्मे सुद्धे, नितिए, सासए" इत्यादि।

आचारांग-१-४-१

किसी भी जीव की हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिये इसके कारण की अभिव्यक्ति जैन वाङ्मय में इस प्रकार से हुई है। संसार के सब प्राणी जीने की इच्छा रखते हैं, कोई भी प्राणहीन होना या मरना नहीं चाहता।

"सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।"

दशवैकालिक-६-११

इसी सत्य की पुष्टि करते हुए बृहत्कल्प में लिखा है कि जिस हिंसा की क्रिया को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते उसे दूसरा [illegible] कैसे मानेगा, जिस दयापूर्ण व्यवहार को तुम अपने लिये पसन्द करते हो वही सबको पसन्द आयेगा। इस शिक्षा को जैन धर्म का निचोड़ समझना चाहिये।

"जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि मा, एत्तियगं जिणसासणयं॥"

जो शास्त्र मानव की अन्तरात्मा में तप, क्षमा और अहिंसा की भावना को जागृत करे उसी को श्रमण संस्कृति में शास्त्र माना है अन्य को नहीं :

"जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंति महिंसयं।"

उत्तराध्ययन ३, ८

ज्ञानी भी उसी को माना है जो किसी सत्व की हिंसा नहीं करता :

"एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।"

सूत्रकृतांग १-११-१०

[illegible] संस्कृति में [illegible] आदर्श को इसी को स्वीकार किया है और [illegible] किसी जीव की हिंसा नहीं करना :

"जो न हिंसई तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं।"
उत्तराध्ययन २५, २३

इसके अतिरिक्त प्रायः विश्व की किसी भी संस्कृति में हिंसा के दो प्रकारों द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के आचरण में भाव हिंसा को द्रव्य हिंसा की समानता का स्थान नहीं मिला। जैन शासन में द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की समानता तो एक सामान्य बात है किन्तु द्रव्य हिंसा की अपेक्षा भाव हिंसा की विरति पर अधिक बल दिया गया है। हिंसा अहिंसा का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। जैन शास्त्र में एक तन्दुल मत्स्य की कथा आती है, जो भाव हिंसा के सूक्ष्म तत्व और भीषण परिणाम पर प्रकाश डालती है।

"स्वयंभूरमण सागर में एक वृहत्काय मत्स्य की पलकों पर एक चावल के आकार का छोटा तन्दुल मत्स्य बैठा था। वह देख रहा था कि उसके अधिष्ठान बड़े मत्स्य के मुँह में अनेक बड़ी छोटी मछलियाँ प्रविष्ट होती थीं। कुछ तो उनमें मत्स्य द्वारा निगली जाती थी और कुछ बाहर भागने में भी सफल हो जाती थीं। तन्दुल-मत्स्य सोचने लगा कि यदि मैं बड़े मत्स्य के स्थान पर होता तो एक मछली को भी बाहर न भागने देता। किसी भी मछली के निगलने की सामर्थ्य न होने पर भी उसने भाव हिंसा द्वारा कलुषित कर्म बांध लिया और दारुण नारकीय फल भोगा।"

पाटन के राजा कुमारपाल मांसाहारी थे। उनकी पाकशाला में आहार निमित्त अनेक पशु पक्षियों का वध होता था। जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र के प्रभाव में आकर उन्होंने मांसाहार न करने की प्रतिज्ञा ले ली और पाकशाला में होने वाला प्राणी—वध बन्द हो गया। एक बार उनकी पाकशाला में पाचक ने खुमियों की सब्जी बना दी। राजा कुमारपाल जब भोजन करने लगे तो उन्हें खुमियों को दांतों से चबाते समय परित्यक्त मांसाहार का स्वाद आने लगा। राजा का मन एका-एक ग्लानि से भर गया और उन्होंने आहार करना बन्द कर दिया। वे दिन भर उदास रहे क्योंकि वे भाव हिंसा के अपराधी थे। सायंकाल वे अपने गुरुदेव हेमचन्द्राचार्य के चरणों में गये और उदास मुख-मुद्रा में बैठ गये। आचार्य समझ गये कि राजा की चिन्ता की मुद्रा का कोई कारण अवश्य होना चाहिये।

"आज उदास कैसे हो राजन् !" आचार्य ने गम्भीर शब्दों में पूछा।

"भाव हिंसा का अपराधी हूं गुरुदेव ! कोई प्रायश्चित्त दीजिये।" कुमारपाल ने अपनी भावहिंसा की सारी कहानी सुना दी।

इस महान् अपराध का प्रायश्चित्त अवश्य होगा, राजन ! और अभी करना होगा मेरे समक्ष।" आचार्य ने आदेश की मुखमुद्रा में कहा।

"प्रस्तुत हूँ गुरुदेव। आज्ञा दीजिये।" राजा ने आज्ञा स्वीकृति की भावना प्रकट करते हुए कहा।

"पत्थर का टुकड़ा लेकर अभी मेरे समक्ष स्वयं अपने दांतों को तोड़ डालो, बस यही इस अपराध का दण्ड और प्रायश्चित्त है।" आचार्य ने आज्ञा देते हुए कहा।

सेवक को पाषाण खण्ड लाने की आज्ञा हुई और वह तुरन्त ले आया। कुमारपाल ने पाषाण खण्ड उठाकर जैसे ही स्वयं अपने दांतों को तोड़ने के लिये हाथ उठाया तो आचार्य ने राजा का हाथ पकड़ लिया और बोले।

"राजन्। प्रायश्चित्त हो गया है। आपने भाव द्वारा ही तो हिंसा की थी और पश्चात्तापपूर्ण भाव द्वारा ही उसका प्रायश्चित्त हो गया है।"

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण संस्कृति में भावों की हिंसा [illegible] को भी हेय और अनिष्टकारी समझा गया है। अहिंसा तत्त्व का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण जैन संस्कृति के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं होगा। हमारी ऐसी धारणा है कि जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के इस निगूढ़ एवं मार्मिक तत्त्व ने [illegible] संस्कृतियों की सभी धाराओं को पावन कर [illegible] श्रमण संस्कृति के अहिंसा के सिद्धान्त [illegible] है, यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है।

[illegible] किया जाता है,

किस कारण करता है और उसका परिणाम क्या होता है, इन बातों के भली-भांति ज्ञान के लिये श्रमण संस्कृति में चार विद्याएँ मानी गई हैं।

१. आत्म विद्या।
२. कर्म विद्या।
३. चारित्र विद्या और।
४. लोक विद्या।

जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, वनस्पति में रहने वाले कीट, पशु, पक्षी की आत्मा और मानव की आत्मा तात्विक दृष्टि से सब समान हैं। श्रमण संस्कृति की आत्म विद्या का यह सार है। समानता के इस मूल सिद्धान्त को अप्रमत्त भावना से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रियान्वित करने के प्रयत्न को ही अहिंसा कहा गया है। इसी सत्य को पुष्टि करने वाले आचाराग सूत्र का एक पद जिसका भाव है कि "जैसे तुम अपने सुख दु:ख का अनुभव किया करते हो, ऐसे ही दूसरों के सुख दु:ख का भी अनुभव किया करो।" हम पहले उद्धृत कर आये हैं।

जिस प्रकार आत्मसमानता अहिंसा के आचार का आधार है ठीक उसी प्रकार यह भी जैन संस्कृति का मन्तव्य है कि जीवों की शारीरिक और मानसिक विषमता चाहे कितनी ही क्यों न हो किन्तु वह कर्म मूलक है वास्तविक नहीं। निम्न से निम्न अवस्था में पड़ा हुआ जीव भी मानव कोटि में आ सकता है और क्षुद्रतम अवस्था का मानव जीव वनस्पति अवस्था में आ सकता है। आत्मविकास द्वारा प्रत्येक जीव बन्धन से मुक्त भी हो सकता है। बन्धन एवं मुक्ति का एक मात्र कारण कर्म है। इसी मान्यता को आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद भी कहते हैं।

भारतीय दर्शनों को मुख्य रूप में दो धाराओं में बांटा जा सकता है: द्वैतवादी और अद्वैतवादी। सांख्य, योग, बौद्ध और जैन द्वैतवादी हैं। अन्य सिद्धान्तों में यद्यपि इनका पारस्परिक मतभेद है किन्तु अहिंसा के क्षेत्र में ये सभी एकमत हैं। औपनिषद् परम्परा वाला अद्वैत-वादी सिद्धान्त अहिंसा का समर्थन तो करता है किन्तु समानता के आधार पर न करके अद्वैत के सिद्धान्तानुसार करता है। उसका कहना है कि तात्विक रूप से जैसे तुम हो वैसे ही सभी जीव शुद्ध, एक ब्रह्म-

रूप हैं। सब जीवों में जो पारस्परिक भिन्नता दिखाई देती है वह वास्तविक नहीं है किन्तु अविद्या मूलक है। अतएव संसार के सब जीवों को अपने से अभिन्न समझकर, उनके दुःख को अपना ही दुःख समझ कर हिंसा से दूर रहना चाहिये। इसी सत्य का समर्थन करते हुए जैन दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित श्री सुखलालजी लिखते हैं।

"द्वैतवादी जैन परम्पराओं के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अन्तर केवल इतना ही है कि पहली परम्पराएँ प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भेद मानकर भी उन सबमें तात्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिंसा का उद्बोधन करती है, जबकि अद्वैतवादी परम्परा जीवात्माओं के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मानकर उनमें तात्विक रूप से पूर्ण अभेद मानकर उसके आधार पर अहिंसा का उद्बोधन करती है। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गति वाले जीवों में दिखाई देने वाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखण्ड ब्रह्म है, जबकि जैन जैसी द्वैतवादी परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्त्व रूप से स्वतन्त्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखण्ड एक ब्रह्म में से नाना जीव की सृष्टि हुई है जबकि दूसरी परम्पराओं के अनुसार जुदे-जुदे स्वतन्त्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव हैं। द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त में से ही अद्वैतमूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमशः विकसित हुआ जान पड़ता है परन्तु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचारानुसार ही घटाया गया है। वाद कोई भी हो, पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।"

जैन धर्म का प्राण, पृष्ठ १०

[illegible] से पाठकों को यह भली-भांति ज्ञात हो गया होगा [illegible] सूक्ष्म और तात्त्विक विवेचन जैना [illegible] किया गया है तथा तुलनात्मक दृष्टि से अन्य [illegible] संस्कृति का प्राण है।

३

सत्य दर्शन

श्रमण-संस्कृति को छोडकर प्राय. भारतीय एव पाश्चात्य संस्कृतियो का केन्द्र-बिन्दु रहा है—ईश्वर, भगवान्। उसे मदिरो, मस्जिदो, गिरिजाघरों और गुरुद्वारों में खोजता रहा है मानव चिरकाल से। उस परमशक्ति को पाने के लिए अनेक धर्म ग्रन्थो की रचना हुई, जिनमे विविध प्रकार के कर्मकांडीय विधि-विधान है उस प्रभु की पूजा के और उपासना के। वह अपने निर्धारित धर्म स्थानो मे जाकर अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा पूजन करता रहा है, चिन्तन करता रहा है, योगासन करता रहा है और खोज करता रहा है, परिणाम में उसे पाने की, उससे मिलने की और उसमे खो जाने की। ऊँचे से ऊँचे पर्वतों पर उसने मन्दिरो का निर्माण करवाया, उनमें प्रतिमाओ की स्थापना करके प्रतिमाओ मे प्रभु को पाने का प्रयत्न किया। दूरस्थ तीर्थों की लम्बी और कष्टसाध्य पैदल यात्रा करके मनुष्य ने वहाँ स्नान किया, कर्म मल के धुलने की कल्पना से और आशा बाधी प्रभु-मिलन की। बड़े-बड़े सन्तों, महन्तों, ऋषियों और महर्षियो के आश्रमों मे भटकता रहा—मानव का जीव, प्रभु मिलन की आशा में। वह अनेक बार निराश हुआ, प्रतिक्रिया के रूप मे उसने विद्रोह भी किया ईश्वर के विरुद्ध। वह चार्वाक के रूप में पूर्णरूपेण नास्तिक भी बन गया, किन्तु उसे किनारा न मिला।

भ्रांति मे भटकते उस भौतिकवादी जीव को करुणा मे भरे भगवान् महावीर ने सान्त्वना देते हुए, प्रतिबोध देते हुए, उसकी सुप्त अन्तर-चेतना को जगाते हुए और उसके अन्तस को जीवनदर्शन की वास्तविकता के आलोक से आलोकित करते हुए कहा था—

"सच्चं खु भगवं।"

—प्रश्नव्याकरण, २-२

अय संसार के अज्ञानान्धकार में भटकने वाले बटोही! तू खोज तो सत्य की कर रहा है किन्तु चल रहा है असत्य के मार्ग पर। तुमने जिन मार्गों का आश्रय लिया है, जिन पगडण्डियों पर तू कदम बढ़ा रहा है सत्य के परमोत्कृष्ट उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए, वे सब पथ अन्त में तुम्हें वहाँ लाकर खड़ा कर देंगे जहाँ निराशा के स्थान पर तुम्हारे हाथ कुछ भी तो नहीं लग सकेगा। तुम बाहर के मार्गों पर चल रहे हो। बहिर्मुखी प्रवृत्ति का त्याग करो, अन्तर्मुखी बनो। पृथ्वीमार्ग पर होती हुई कोई पगडण्डी तुम्हारे इष्ट देव तक नहीं जाती। वह पगडण्डी तो तुम्हारे अन्तर से होती जाती है। अन्तर का मार्ग लम्बा नहीं है। मार्ग छोटा है किन्तु है प्रयत्नगम्य। अध्यवसायी बनो, पावन बनाओ उस पथ को अपनी तपश्चर्या द्वारा। बस, फिर क्या है? जिसे तुम पाने के लिए बाहर भटकते फिरते हो उस भगवान् को अपने अन्दर ही विराजमान पाओगे। तुम्हारा आत्मा ही स्व स्वरूप में भगवान् है, यही जीवन का वास्तविक सत्य है। या फिर दूसरे शब्द में हम यह कह सकते हैं कि सत्य ही भगवान् है और भगवान् ही सत्य है। वेदान्त दर्शन की ये उक्तियां—'तत्त्वमसि' अर्थात् वह ईश्वर तुमसे भिन्न नहीं है, तू स्वयं ही ईश्वर है। 'जीवो ब्रह्मैव केवलम्' जीव ही तो साक्षात् ब्रह्म है—भगवान् महावीर के 'सत्य ही भगवान् है', इस सत्य को पुष्ट करती हैं। इसी चिन्तन-धारा का प्रभाव बहुत बाद के हिन्दी संत-कवियों की चिन्तन-धारा पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। एक संत कवि ने कहा है—

"[illegible] [illegible] [illegible] को ढूँढ फिरा सब ढूँढ।
[illegible] न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में ढूँढ॥"

[illegible] था और [illegible] है।

अन्तर में बैठे उस भगवान् को रिझाने के लिए तुम्हे सुवर्ण के अलंकारों की, हीरे-जवाहरातो की, वस्त्रो की, फूलों की, फलो की और धूप-दीप-नैवेद्य-किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही है। उसे तो मात्र तुम्हारे पावन भावो की आवश्यकता है। वह सत्य भगवान् स्वय अपने मे पावन है। जिस पगडण्डी पर से होकर जाना है उसे भी पावन बनाना होगा। वह आक्रान्त है क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे डाकुओ से। साधना द्वारा उस पगडण्डी को मुक्त करना होगा, इन अपावन शत्रुओं से। अहिंसा, सयम और तप के माध्यम से ही उक्त चार कषाय-शत्रुओ का विनाश सम्भव है। शत्रुओ के नष्ट होते ही साधक का मार्ग प्रशस्त बन जायेगा। साधना की पगडण्डियो पर क्रमशः आरूढ होता हुआ जीव आध्यात्मिक उच्चता के उस धरातल पर पहुँच जायेगा, जहाँ उसे देवता भी प्रणाम करने चले आयेंगे।

श्रमण संस्कृति की कहो या भगवान महावीर के सिद्धान्तो की कहो, यह भी अपनी निराली विशेषता है कि इसमे जीव को देवी देवताओ के चरणों में शीश झुकाने की या किसी विशिष्ट परम शक्ति के चरणो मे अभिवन्दन करने की प्रेरणा नही दी जाती, प्रत्युत प्रत्येक जीव को आध्यात्मिक साधना के उच्च धरातल तक पहुँचने की प्रेरणा दी जाती है, जहाँ देवता भी स्वयं आकर उसके चरणो मे प्रणाम करते है।

"देवा वि तं नमंसंति।"

—दशवैकालिक, १-२

अर्थात्—धार्मिक व्यक्ति के चरणो मे देवता भी नमस्कार करते हैं।

भगवान् महावीर की इस उक्ति मे श्रमण संस्कृति का एक और भी सारगर्भित तत्व छिपा प्रतीत होता है। वैदिक संस्कृति के अनुसार :

स्वर्गकामो यजेत्।

अर्थात्—स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा करने वाले प्राणी को यज्ञ करना चाहिए। ऐसा विधान है। इसमे यह स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति मृत्युलोक मे देवलोक को प्रधानता स्वीकार करती है। या दूसरे शब्दों मे देवलोक को मृत्युलोक मे उत्तम समझती है। किन्तु श्रमण संस्कृति का यह कथन है कि "धार्मिक, संयमी और तप

जीव के चरणों में तो स्वयं देवता भी आकर झुकते हैं" मृत्युलोक की श्रेष्ठता सिद्ध करता है।

गौतम स्वामी ने जब भगवान् महावीर से पूछा कि मृत्युलोक का एक पूर्ण संयमी साधक सीधा मोक्ष क्यों नहीं चला जाता, वह देवलोक में क्यों जाता है? तो भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तर में कहा—

"कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति।"

—भगवती सूत्र, श० २, उ० ५

अर्थात्—"हे गौतम! जब जीव के कर्मों का क्षय होना कुछ अवशिष्ट रह जाता है, तभी उसे देवलोक में जाना पड़ता है।" लाचारी है, वह प्रसन्नता से वहाँ नहीं जाता।

आगे चल कर उत्तरकाल में उक्त सत्य की—"देवता भी इस धरित्री पर मनुष्य योनि में जन्म लेने के लिए लालायित रहते हैं",—पुष्टि करते हुए श्री विनयचन्द जी अपनी चौवीसी के एक स्तवन में कहते हैं—

"मानस जनम पदारथ जिणरी,
आशा करत अमर रे………।
ते पूरब सुकृत कर पायो,
धरम-मरम दिल धर रे………॥"

इस प्रकार श्रमण संस्कृति जीव को बहिर्मुखी प्रवृत्ति से रोककर उसे अन्तर्मुखी बनाती है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति में रमण करता हुआ जीव, जीवन दर्शन के परम तत्त्व को पहचान लेता है। बस, जीवन का परम सार यही तो है, और उसे ही जैन दर्शन में भगवान् माना गया है।

[illegible] : आत्मा का सहज गुण

[illegible] है। जो पवित्र होता है उसमें [illegible] नहीं हो सकती। यह [illegible] होता है, [illegible] कुछ [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible]

बोलना तो उसे सिखाया जाता है।

स्काटलैण्ड के एक बालक की सत्यप्रियता की घटना यहाँ स्मरण हो आई है। एक बार स्काटलैण्ड के निवासियों ने इगलैंड के राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। उनके दुर्भाग्य से वह विद्रोह सफल न हो सका। इगलैंड की सेना ने उसे बुरी तरह से कुचल दिया। विद्रोहियो को श्रेणी मे खडा करके गोली से उडाया जाने लगा। एक कतार में एक अल्पायु बालक भी खडा था। उस बालक को देखकर सेनापति का हृदय दयार्द्र हो गया। उस बालक को कहा—

"बच्चे, यदि तुम क्षमायाचना कर लो तो तुम्हे मृत्यु-दण्ड से मुक्ति मिल सकती है।"

लड़के ने सेनापति की सम्मति को स्वीकार नही किया। इस पर पुन सेनापति ने कहा—

"मैं तुम्हे २४ घण्टे का अवकाश देता हूँ इस बीच तुम अपने सगे—सम्बन्धियों से जाकर मिल आओ।"

बच्चा चला गया। वह तो माँ का इकलौता बेटा था। वह सीधे अपनी माँ के पास गया। माँ को समाचार मिल चुके थे। वह मृत्यु दण्ड के शिकार अपने बच्चे के वियोग मे घर पर मूर्च्छित पडी हुई थी। वह जब होश मे आई तो बच्चे ने कहा—

"माँ मै आ गया हूँ।"

अपने इकलौते बेटे को मृत्यु-दण्ड के मुख से बचा हुआ जान कर माँ को अपार हर्ष हुआ और उसने बच्चे को गले लगा कर जी भर कर प्यार किया। जब २४ घण्टे का निश्चित समय समाप्त हो गया तो बच्चा जाने की तैयारी करने लगा। बच्चे को तैयारी मे लगे देख माँ ने पूछा—

"बेटा! कहाँ जाने की तैयार हो रहे हो?" बच्चे की आखो से आँसुओ की झड़ी लग गई। बडी कठिनाई से अपने आपको सभाल कर बोला—

"माँ! मुझे सेनापति ने केवल २४ घण्टे की छुट्टी दी थी। अब मैं मृत्यु-दण्ड पाने के लिए वापिस जा रहा हूँ। वचन जो दे आया थ

सेनापति को। अब तो अपने प्रतिपालक भगवान् पर ही भरोसा रखना होगा तुम्हें।"

अपनी माता को कुछ भी कहने का समय न देकर बच्चा चला गया और सेनापति की सेवा में उपस्थित हो गया। सेनापति को तनिक भी आशा नहीं थी कि बच्चा फिर लौट आयेगा। वह बच्चे की सत्य-परायणता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने तुरन्त उसे छोड़ने की आज्ञा दी।

तो, ऐसा होता है स्वभाव से सत्यपरायण बालक का अन्तःकरण।

असत्य का श्रीगणेश।

जैसा कि हम लिख आये हैं, बच्चे को असत्य बोलना सिखाया जाता है। उसके सहज गुण को दबा कर उस पर कृत्रिम दुर्गुण को थोपा जाता है। उसकी असत्य भाषण की शिक्षा का श्रीगणेश घर पर उसके माता-पिता ही करते हैं। खाद्यान्नों में मिलावट की सामग्री प्रायः घर पर ही तैयार होती है, काले बाजार की योजनाएँ भी घर पर ही बनती हैं, चोर बाजारी के धन को छुपाने की व्यवस्था भी घर पर होती है। निर्मल हृदय बालक जब पूछते हैं कि क्या हो रहा है तो उन्हें कहा जाता है—अगर कोई पड़ोसी पूछ भी ले तो उसे ऐसे कहना, अर्थात् झूठ बोलना। धीरे-धीरे माता-पिता से सुनते-सुनते बच्चे के मन पर ये संस्कार पड़ जाते हैं कि वास्तविकता अर्थात् सत्य को छिपा कर अवास्तविकता—झूठ को प्रकट करना ही जीवन है। जैसे जल की एक लहर अनेकों लहरों को जन्म देती है ठीक इसी प्रकार एक विकार से अनेक विकार उत्तरोत्तर मानव-मन में घर कर जाते हैं। अन्त में स्थिति यहां तक पहुंच जाती है कि जीव पूर्णरूपेण कषायों [illegible] हो जाता है। उसका सत्य-स्वरूप दब जाता है और [illegible] प्रकट हो जाता है। उस स्थिति में जीव के मन, वाणी [illegible] जाता है। परिणामस्वरूप वह जीवन [illegible] और विचार में सर्वत्र असत्याचरण करता [illegible] है।

[illegible]

[illegible] माया, लोभ [illegible]

का मूल स्रोत है तो इसमें अत्युक्ति नही होगी। क्रोधाभिभूत मनुष्य द्वारा बोला गया असत्य तो असत्य होता ही है किन्तु सत्य भी असत्य बन जाता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि सत्य आत्मा का सहज गुण है—स्वस्थिति है। इसके विपरीत क्रोधादि कषाय आत्मा का दूषण है, उसके सहज गुण पर आवरण है। क्रोध की अवस्था में आत्मा दूषित हो जाती है। दूषित आत्मा से निकला हुआ सत्य भी दूषण के मिश्रण से अशुद्ध हो जाने के कारण असत्य ही माना जाता है। क्रोध की स्थिति में विवेक शून्यता के कारण असत्य की ही अभिव्यक्ति प्रायः होती है। इसी प्रकार जब मन में अहंकार भरा हो तब भी अहंमन्यता के नशे में असत्य का उद्‌भव तो होता ही है किन्तु सत्य भी बोला जाये तो जैन दृष्टि से असत्य ही बन जाता है। लोभग्रस्त मानव तो सर्वथा विवेकशून्य होता ही है। उसके असत्य का जनक होने में तो तनिक भी संदेह नही है। आज का व्यापारी वर्ग इस सत्य का ज्वलन्त उदाहरण है। प्रतिदिन व्यापारियो की नई-नई चोरियाँ संग्रह की, काले धन की, विदेशी वस्तुओं के अवैध तरीके से लाने की आदि प्रवृत्तियाँ पकडी जाती है जिनका आधार शिला असत्य ही है।

उक्त चारों कषायों के आत्मा या सत्य पर छा जाने से उसके सहज गुण आवृत हो जाते हैं। इसी भाव को अभिव्यक्ति देते हुए 'ईशा-वास्योपनिषद' के एक महर्षि ने कहा है—

हिरणमयेन पात्रेण, सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्व पूषन्नापावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये॥

अर्थात्—सुवर्ण के पात्र से सत्य के मुख को ढक दिया गया है।

यहाँ सुवर्णमात्र से अभिप्राय उन अज्ञानमय और भ्रांतिपूर्ण मान्यताओं से है जो सत्य को ढंके रखती हैं और उसे प्रकाश में नहीं आने देती। अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि प्राणी के लिए चारों कषाय कम आकर्षक नहीं हैं। मिथ्यादृष्टि प्राणी कषायों की कालिमा में भ्रमित हुआ सत्य को या आत्मस्वरूप को पहचान नहीं पाता जिसके परिणाम-स्वरूप वह संसार-सागर में अनन्तकाल तक भटकता रहता है। तभी तो शास्त्रकार मानव को बार-बार सचेत करते हुए कहते हैं—

'जे ते उ वाइणो एवं न ते संसारपारगा।'

सूत्रकृतांग-१-१-१-२१

अर्थात्—जो असत्य की प्ररूपणा करते हैं, वे संसार-सागर को पार करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते।

'सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ।'

अर्थात्—जो मेधावी साधक सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहता है, वह मृत्यु के प्रवाह को तैर जाता है या जन्म-मरण के बन्धनों को काट डालता है।

सत्य की भावना या सत्य का अन्तर्जगत विराट है और असत्य की कृत्रिमता और सांसारिक क्षेत्र भी विराट है। प्रथम मोक्ष की ओर प्रवृत्त करता है और दूसरा नरक की ओर। किस मार्ग पर चलना श्रेयस्कर होगा, इसकी पहचान सम्यग्दृष्टि कर सकता है, मिथ्या दृष्टि नहीं।

साधक यदि सत्य को या अपने ही सहज स्वरूप को पहचानना चाहता है तो उसे सर्व प्रथम विवेक द्वारा सत्य की वास्तविकता से और सरलता से अपने मन को अनुप्राणित करना चाहिये। मन यदि सत्य से पावन बन गया तो फिर वाणी से भी सत्य अभिव्यक्त होगा और वाणी की अभिव्यक्ति निश्चित रूप से सत्यकर्म में प्रस्फुटित होगी। मन, वाणी और कर्म की एकरूपता को भी शास्त्रकार सत्य का स्वरूप मानते हैं—

'[illegible]मनसामृजुत्वमविसंवादित्वं च सत्यम्।'

—मनोनुशासनम ६-३

[illegible] मन की सरलता तथा अविसंवादित्व [illegible] सत्य कहा जाता है।

[illegible]

सत्य सहज स्वरूप में होना चाहिए दबाव के प्रभाव में आकर नहीं, स्वार्थ के वशीभूत होकर नहीं, तृष्णा से अभिभूत होकर नहीं, और भय के कारण नहीं। सत्य की साधना करने वाला साधक भयानक से भयानक आपत्ति आने पर भी सत्य के मार्ग से विचलित नहीं होता। सत्य की शिक्षा देने वाले, सत्य का समर्थन करने वाले, सत्य का पक्ष लेने वाले अनेकों व्यक्ति हो सकते है परन्तु सत्य को जीवन में उतारने वाले और सत्य के पालन के लिए घोर से घोर आपत्ति आने पर भी अपने पथ पर अडिग रहने वाले व्यक्ति संसार में विरले ही होते है। इटली में ईसाई चर्चों में धर्म के नाम पर सरकार में विशेष विधि-विधान को लेकर घोर दुराचार और भ्रष्टाचार का बोलबाला था। सन्त सावोनएला ने इनके विरुद्ध आवाज़ उठाई और बहुत सुधार किया। धर्मान्ध और रूढ़ीवादी ईसाईयों को यह सुधार और सत्य की स्थापना अच्छी नहीं लगी। सत्य के विरोधी इन मूर्ख शत्रुओं ने सन्त सावोनएला का सामाजिक बहिष्कार करवा दिया और अन्त में उसे फांसी के तख़्ते पर लटका दिया गया। अपने जीवन के अंतिम क्षण तक सन्त सत्य के मार्ग पर अविचल रहा।

यह बहुत पुरानी बात नहीं है। गत शताब्दी में यूरोप के अनेक प्रदेशों में गिरिजाघरों के पोपो का आधिपत्य और पाखण्ड प्रायः सर्वविदित है। ये पोप स्वर्गलोक में भवनों की सीट के अग्रिम आरक्षण के बहाने उनसे लाखो रुपये लूट लेते थे। वे अपने आपको एक अलौकिक या दिव्य शक्ति मानते थे। भोली-भाली अन्ध-विश्वास के कीचड़ में धसी जनता उनका अन्धानुकरण करती हुई अपना सर्वस्व लुटाती जा रही थी। इस पाखण्ड, अत्याचार और अन्धविश्वास के विरुद्ध महान् लूथर ने विद्रोह किया। उसने कहा कि मानव अपने पुरुषार्थ से सत्कर्मों के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। दूसरा कोई उपाय नहीं। पोपों के द्वारा दिया गया स्वर्गलोक का पासपोर्ट जाली है, झूठा है और धोखे से युक्त है। लूथर ने जिस सत्य का शंखनाद किया उसके विरुद्ध स्वार्थी और पाखण्डी पोपों ने विरोध का बड़ा भयानक तूफान खड़ा कर दिया। सर्वप्रथम उसका बहिष्कार किया गया। तत्पश्चात् लूथर प्रधान पोप की क्रोधाग्नि का शिकार बना, उस पर उग्र प्रहार किये गये। सत्य का साधक एवं प्रचारक

वह महान् लूथर अपने पवित्र मार्ग पर अविचल रहा। और अन्त में 'सत्यमेव जयते' अर्थात्—'सत्य की ही विजय होती है' की उक्ति के अनुसार लूथर के सत्याधारित सिद्धान्त की ही विजय हुई।

सुकरात ने बुद्धिवाद का प्रचार करके अपने सत्य को अभिव्यक्ति दी थी और यूनान में ज्ञान का प्रसार करने का प्रयत्न किया था। उस पर यूनान के अधिकारियों ने नवयुवकों को धर्म भ्रष्ट करने का आरोप लगाया और उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा। सुकरात हँसते-हँसते विष का प्याला पी गया किन्तु अपने सत्यपथ से विचलित नहीं हुआ।

ये हैं कतिपय उदाहरण उन सत्य के पुजारियों के, सत्य के साधकों के और सत्य पर दृढ़ रहने वालों के जिन्होंने सत्य की रक्षा के लिए हँसते-हँसते अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिये। उन्होंने समझ लिया था सत्य के तत्त्व को, सत्य की व्यापकता को सत्य की सम्पूर्णता को, सत्य के सार को और सत्य की अतल गम्भीरता को। तभी तो शास्त्र घोषणा करता है—

> सच्चं लोगम्मि सार भूयं
> गम्भीरतरं महासमुद्दाओ।'

—प्रश्नव्याकरण २-२

अर्थात्—संसार में सत्य ही सारभूत है। सत्य महासागर से भी अधिक गम्भीर है।

[illegible] हो धनवान् हो, ज्ञानवान हो, कान्तिवान् हो, [illegible] हो, [illegible] हो, प्रज्ञावान् हो और धर्मध्यान में [illegible] यदि वह सत्यदर्शन से वंचित है तो वह [illegible] और [illegible] ही है। तभी तो अज्ञानी [illegible] करते हैं—

> 'पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि ॥'

—आचारांग, १-१-३

[illegible]

सत्य अन्य सब तत्वों से महान् क्यों है, इस तथ्य को स्पष्ट करते एक आचार्य लिखते है—

सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारणम्।
सच्चं सग्गद्दारं, सच्चं सिद्धि इ सोपाणं॥

—धर्म संग्रह, अधि० २, श्लोक २६

अर्थात्—सत्य यश का मूल कारण है। दूसरों का विश्वास प्राप्त करने का सत्य मुख्य साधन है। सत्य के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है और जीवन में प्राप्त होने वाली सफलताओं की तो यह सोपान है।

सत्य के भेद

तात्विक दृष्टि से देखने से सत्य अपने आप मे पूर्ण है, उसके भेद नही हो सकते। जो सत्य है वह तो सत्य ही रहेगा, वह असत्य कैसे हो सकता है? किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत्य के भेद किये जा सकते हैं। जो सत्य असत्य से प्रभावित होकर अपनी वास्तविकता मे परिवर्तन करदे वह भूठा सत्य कहलाता है। सत्य असत्य से प्रभावित न हो वह सच्चा सत्य बना रहेगा। उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति मे पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण अथवा इस जन्म की ससार की स्वार्थमयी प्रवृत्तियो या परिस्थितियों के कारण विरक्ति की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह सासारिक जीवन का परित्याग करके संन्यासी होना चाहता है। परन्तु सगे-सम्बन्धियो के दबाव या प्रभाव मे आकर वह ससार का त्याग नही करता। उसकी भावना वास्तव मे सत्य थी किन्तु दूसरो की बातो से प्रभावित होकर उसने सत्य का अनुसरण नही किया। उसके सत्य को भूठा सत्य ही कहना पड़ेगा। दूसरे प्रकार के सत्य के साधक वे व्यक्ति होते हैं जो अपने सत्य-मार्ग पर इतने दृढ होते हैं कि यदि सारा संसार भी उनके विरुद्ध हो जाये तब भी अपने मार्ग का त्याग नही करते। ऐसा सत्य वास्तविक सत्य कहलायेगा। सत्य के लिए विषपान भी करना पडे, सूली पर भी लटकना पडे और फासी पर भी चढना पडे तो भी वे हँसते-हँसते उस यातना को सहन कर लेते हैं। वे मिट जाते है किन्तु सत्य कभी नही मिटता। सत्य तो अमर है। ईसा, सुकरात, लूथर और मसूर आदि के

उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे वास्तव में ऐसे ही सत्यमार्ग के उपासक थे।

जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर आये हैं कि सत्य का स्वरूप विराट् है सत्य की सीमा असीम है और सत्य जीवन के सब तत्वों का सम्राट है। आत्मा का दूसरा नाम सत्य है, भगवान् का दूसरा नाम सत्य है और सत्यवचन का स्वरूप सत्य है। ऊपर हमने जो सत्य के दो भेद किये हैं वे वर्तमान लौकिक व्यवहार को देखते हुए अपनी दृष्टि से किये हैं। व्यवहार की दृष्टि से प्रचीन आचार्यों ने सत्यवचन को दस भेदों में विभक्त किया है। जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है उसके उसी स्वरूप का कथन करना 'सत्यवचन' कहलाता है। जैसे शब्द एक ही हो किन्तु भिन्न-भिन्न प्रान्तों में उसके अर्थ अलग-अलग हों। ऐसी स्थिति में यदि शब्द प्रयोक्ता की विवक्षा उचित हो तो उस शब्द के दोनों अर्थ सत्य माने जायेंगे। उदाहरण के लिए 'बाई' शब्द राजस्थानी भाषा में स्त्री वाचक है किन्तु पंजाब के मालवा प्रान्त में 'बाई' पिता को कहते हैं। दोनों प्रान्तों के शब्द प्रयोक्ताओं की अपनी-अपनी विवक्षा से दोनों अर्थ सही माने जायेंगे। इस प्रकार विवक्षा को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने सत्य-वचन के दस भेद किये हैं जो इस प्रकार हैं—

जणवय, संमय, ठवणा,
नामे, रूवे य पडुच्चे य।
ववहार, भाव, जोगे य,
दसमे ओवम्म सच्चे य॥

—ठाणांग सूत्र, १०वां स्थान

१. जनपद सत्य

[illegible] जिस नाम से पुकारी जाती है, वह नाम [illegible] उच्चारण किया जा सकता है।

२. सम्मत सत्य

[illegible]

निकलेगे : पंकात् जात:—पंकज., अर्थात् कीचड़ से पैदा होने वाला। कीचड़ से तो सेवाल भी पैदा होता है, मेढक भी पैदा होते है किन्तु पंकज से अर्थ कमल का ही लिया जाता है। इसका कारण है पकज का कमल अर्थ विद्वान् सम्मत है, इसलिए इसको सम्मत सत्य कहते हैं।

३—स्थापना सत्य

सदृश या असदृश आकृति वाली किसी वस्तु मे किसी की स्थापना करके उसे उस नाम से पुकारना 'स्थापना सत्य' कहा जाता है। शतरज के मोहरे हाथी, घोड़े तो नही होते किन्तु उनमे हाथी-घोड़े की स्थापना करके उन्हे हाथी-घोडा कहा जाता है। आचाराग आदि तो श्रुत-ज्ञान स्वरूप है, लिखे हुए शास्त्रो मे उनकी स्थापना कर लेना 'स्थापना सत्य' है।

४—नाम सत्य

गुण के अभाव मे भी किसी व्यक्ति विशेष का तद्गुण सम्पन्न नाम रख देना। जैसे खाने का ठिकाना नही, नाम रख दिया करोडीमल। नाम तो हो रूपचद और शकल से हो लंगूरचन्द।

५—रूप सत्य

वास्तविकता के सर्वथा अभाव होने पर भी किसी को उसके रूप विशेष के कारण उस नाम से सम्बोधन करना रूपसत्य कहलाता है। जैसे गेरुए रग के वस्त्र पहनने के कारण लोग किसी को साधु या सत समझते है चाहे उसमे साधु का कोई भी लक्षण न हो।

६—प्रतीतसत्य या अपेक्षा सत्य

अपेक्षा की दृष्टि से वस्तु को छोटी या बड़ी कहना अपेक्षा सत्य या प्रतीत सत्य है। उदाहरण के लिए मध्यमा अगुली की अपेक्षा अनामिका को छोटी कहा जाता है।

७—व्यवहार सत्य

जो बात व्यवहार में बोली जाती है, वह व्यवहार सत्य है। सड़क स्थिर है तो भी लोग कहते है कि यह सड़क जोधपुर को जाती है और यह जयपुर को जाती है।

८—भाव सत्य

निश्चय की अपेक्षा से कई अन्य गुणों के सद्भाव में भी किसी को उसके विशिष्ट गुण के नाम से ही पुकारना । मोर के पंखों में और शरीर में कई रंग होते हैं उसका कंठ नीला होने के कारण उसे नील-कण्ठ कहा जाता है ।

९—योग सत्य

किसी विशिष्ठ कार्य को करने के कारण कर्ता को उस नाम से पुकारना योग सत्य होता है । लकड़ी का काम करने वाला 'लकड़हारा' और लोहे का काम करने वाले 'लोहार' कहाते हैं ।

१०—उपमा सत्य

तुलना के कारण किसी को उस नाम से पुकारना उपमा सत्य होता है । किसी व्यक्ति की नाक तोते के समान हो । तोते के नाक की और उसके नाक की समताधारित तुलना के कारण उसे 'तोताराम' कहकर सम्बोधित करना 'उपमा सत्य' कहलाता है ।

सार

इस प्रकार भगवान् महावीर का यह सिद्धान्त कि सत्य ही भगवान् है और भगवान ही सत्य है तथा आत्मा स्वरूप में परमात्मा ही है, [illegible] सत्य है । सत्य की उपलब्धि के लिए आवश्यकता है—[illegible] की, सम्यग् दृष्टि की और दृढ़ता की । ये आधार शिलाएं [illegible] हैं । जिसने सत्य को पहचान लिया उसने जीवन के लक्ष्य को [illegible] । [illegible] सत्य को जीवन का सार स्वीकार करते हैं । [illegible] कि सत्य के बिना जीवन सर्वथा निस्सार है और दूसरे [illegible] मानव योनि का परिहार है । [illegible] यह माना गया है कि मनुष्य [illegible]

समता के कारण स्वाभाविक रूप से सौम्याकृति बन जाता है। सूर्य-मण्डल से भी अधिक दीप्त वहने का अभिप्राय है कि वह सत्य की शक्ति पाकर इतना तेजस्वी बन जाता है कि असत्य का अन्धकार कदापि उसके आगे टिक नही पाता। जैसा कि हमने लेख में निर्देश किया है कि जीव मे सत्य का प्रवेश होते ही कषायादि सब विकार नष्ट हो जाते है। जहाँ जीव मे विकारो का अभाव हुआ कि निर्मलता आई। यही कारण है कि सत्य को शरत्कालीन आकाश मे भी अधिक निर्मल माना गया है। सत्य का साधक जिस स्थान को भी अपनी उपस्थिति से अलकृत करेगा वहाँ सत्य की सौरभ निश्चित रूप से फैलेगी, इसी लिए सत्य को गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सुगन्धि वाला बताया है। निम्नलिखित शास्त्र के वचन मे उपर्युक्त सत्य का निर्देश है :

'तं लोगम्मि सारभूयं, गंभीरतर महासमुद्दाओ,
थिरतरग मेरुपव्वयाओ, सोमतरगं, चदमडलाओ,
दित्ततरं सूरमंडलाओ, विमलतर सरयनहयलाओ,
सुरभितरं गंधमादणाओ ॥'

—प्रश्नव्याकरण, सं० द्वा० २, सूत्र—२४

चौर्यकर्म का बोलवाला है और इसी का एक छत्र राज्य है। चोर तो चोर है ही किन्तु जिसका कर्तव्य चोर को पकड़ना है, वह भी चोर है। प्रजा के अधिक संख्यक लोग तो चोरी की बीमारी के शिकार हैं ही किन्तु उन पर नियंत्रण रखने वाले बड़ी संख्या में शासक-वर्ग के लोग भी चौर्यकर्म को बड़ी लगन से, साधना से और अध्यवसाय से अपने जीवन में उतार रहे हैं। बाहर से आने वाले तस्करी के माल में, बड़े-बड़े राज्य कर्मचारियों का भी हाथ रहता है—यह तथ्य समाचार पत्रों के समाचारों से प्रमाणित होता है और एक खुला रहस्य है। सरकार के कठोर नियंत्रण के सद्भाव में भी करोड़ों रुपयों का तस्करी का माल, भारत में प्रति मास आता है और लुकछिप कर यहाँ के बाजारों में बिकता है यह बात सर्व-विदित है। बड़े-बड़े लोग इस तस्करी के काम में पकड़े जाते हैं, उन पर न्यायालयों और उच्च-न्यायालयों में मुकदमे चल रहे हैं। कइयों को कारावास का दण्ड भी मिलता है किन्तु यह सब होते हुए भी, चौर्यकर्म में किसी प्रकार की कमी नहीं आ रही।

बड़े-बड़े राज्यकर्मचारी उत्कोच-रिश्वत लेकर, जो अन्यायपूर्ण कार्य है उसे करवा देते हैं और जो न्याय की दृष्टि से होना चाहिए उसे ठुकरा देते हैं यह न्याय की चोरी है, इसीलिये वे चोर हैं। सामान्य राज्य-कर्मचारियों की तो बात ही क्या, उच्च पदों को अलंकृत करने वाले राजनीतिज्ञों पर भी न्यायालयों में चलने वाले बड़ी चोरी के मुकद्दमों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासक वर्ग के कुछ लोगों की भी नीयत साफ नहीं है। ऐसी घटनाएँ रहस्यात्मक नहीं हैं अपितु प्रतिदिन दैनिक-पत्रों में पढ़ने को मिलती है।

'यथा राजा तथा प्रजा:'

यह उक्ति त्रैकालिक विश्वसत्य है। अब तनिक दृष्टिपात कीजिए वर्तमान युग की सामाजिक चोरी पर। तुला-तराजू को कई प्राचीन एवं अर्वाचीन शासकों ने न्याय का प्रतीक माना है। कुछ राजाओं द्वारा चलाए गये सिक्कों पर तराजू का चित्र अंकित है जो सबको *न्याय दिलाने का प्रतीक है शासक द्वारा। वर्तमान युग में न्याय के*

प्रतीक उस तराजू की क्या दुर्दशा की है चोरी के धन्धे को सफल बनाने के लिए, यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है। डण्डी मारने की कला में तो व्यापारी सिद्ध हस्त होता ही है, उस कला के द्वारा ग्राहक को कम माल तोलकर देना और शेष की चालाकी से चोरी कर लेना तो उसके बाएँ और दायें दोनों हाथों का सामान्य खेल है किन्तु माल लेने के बाँट और रखना और देने के बाँट और प्रयोग में लाना—यह उसकी चोरी की कला और प्रकाश में आई है। व्यापारी की चोरी की चतुराई, मात्र जनता तक ही सीमित नहीं है, वह सरकार पर भी बड़ी सफाई से, सफलता पूर्वक अपना हाथ साफ करना जानता है। 'बहियें' दो प्रकार की रखता है—असली और नकली। एक सरकार को दिखाने की और दूसरी घर में रखने की, जिसमें असली रकम जमा की जाती है। इस प्रकार व्यापारी-वर्ग अरबों रुपयों की सरकार की चोरी करता है। सरकार उसे पकड़ने का कोई मार्ग निकालती है तो वह उससे बचने का बड़ी चतुराई से अन्य मार्ग निकाल लेता है। सरकार व्यापारी पर भारी कर लगाकर उसे दबाना चाहती है, तो वह सारा भार उपभोक्ता पर डालकर, उस संकट से 'साफ साफ' बचकर निकल जाता है। पिसते हैं मध्यम वर्ग के लोग, शोषण होता है बेचारे पहले से ही अभावग्रस्त लोगों का, अन्त- [illegible] के लिए तरसना पड़ता है बेचारे निर्धन-वर्ग को ! व्यापारी-वर्ग द्वारा कराये गये चोरीकर्म के परिणाम स्वरूप असंख्य प्राणी शोषण, के अभाव के और अनन्त यातनाओं के शिकार बनते हैं। चोरी के पाप द्वारा कमाये गये उस धन में से कुछ राशि धार्मिक-संस्थाओं को दान में देकर कुछ लोग अपने पापकर्म को धोने का प्रयत्न करते हैं किन्तु [illegible] नहीं होता। पाप द्वारा [illegible] पाप को नहीं धो सकता। वे लोग भले ही धर्म [illegible] के पास बन जाएँ किन्तु आज के [illegible] की ओर पूर्ण रूप से [illegible] है, उन [illegible] कोई प्रभाव पड़ता [illegible]

[illegible]

क्या वे 'अदत्तादान' के अन्तर्गत आते हैं, यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक भाषा में देते हुए शास्त्रकार कहते हैं।

'स्तेन प्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम।
हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥
तत्वार्थ सूत्र, ७-२२

अर्थात्—चोर को चोरी कराने का तरीका बताना, चोर द्वारा चुराकर लाई गई वस्तुओं को ग्रहण कर लेना, राजकीय मर्यादा या नियम का उल्लंघन करना, छोटे-बड़े नाप तौल रखना, वस्तुओं में मिलावट करके बेचना और अच्छी वस्तु दिखाकर खोटी दे देना—ये सब अस्तेयव्रत के अतिचार है, अर्थात् एक प्रकार की चोरी है।

शास्त्रकार के वचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मिलावट करके वस्तुओं को बेचना और अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी वस्तु ग्राहक को दे देना, इन दोनों पापमय व्यापारिक चोरियों का प्राचीन युग में भी अभाव नहीं था भले ही उनका रूप इतना निन्दनीय न हो जितना कि आजकल है। आज कल तो ये दोनों प्रकार की चोरियाँ अपनी चरम सीमा को भी पार कर गई हैं। कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली में पालियामेंट के एक सदस्य ने पालियामेंट में कहा था, कि देश में खाद्य पदार्थों में इतनी व्यापक रूप से मिलावट है कि यदि कोई शुद्ध जहर भी खरीदना चाहे तो वह भी मिलावट वाली मिलेगी। उसकी यह बात शत प्रतिशत सत्य थी। स्वार्थ के वशीभूत होकर असली खाद्यान्नों में नकली विकृत वस्तुओं के मिश्रण द्वारा धनार्जन करना एक दण्डनीय सामाजिक एवं राष्ट्रीय चोरी है। विकृत पदार्थों के मिश्रण के उपभोक्ता अनेक प्रकार के असाध्य रोगों से ग्रसित होकर अपने जीवन तक से भी वंचित हो रहे हैं। इस प्रकार की चोरी से चोर-व्यापारी भयानक पापकर्म बांधता है। कई बार तो उसे उस पापकर्म का फल इसी लोक में भोगना पड़ जाता है। कलकत्ते का एक घी का व्यापारी घी में ऐसी वस्तु की मिलावट करता था जिससे घी विष बन जाता था। उसके इस कुकृत्य से कितने ही उपभोक्ताओं को जीवन से हाथ धोने पड़े। एक बार लापरवाही से उस व्यापारी की श्रीमती ने घर की ... भी जब उस घी का प्रयोग किया तो उस व्यापारी का सारा प
उसके स[illegible] ... शान बन गया था। अपने स्वार्थ

प्रकार की चोरी करने वाला व्यक्ति, वास्तव में मानव नहीं राक्षस है। वह अपने जीवन के लिए दूसरों के जीवन से खिलवाड़ करता है।

यह बात भी सर्वविदित है कि किसी विदेशी कम्पनी ने भारत की एक जूतों की कम्पनी को जूतों के आयात के लिए करोड़ों रुपयों का आर्डर दे दिया था। नमूने के तौर पर तो भारतीय कम्पनी ने अच्छा माल भेज दिया परन्तु थोक में जूतों में कोरे गत्ते भर कर भेज दिये। विदेशी कम्पनी ने वह सारा माल वापिस लौटा दिया। इस प्रकार की चोरी के परिणाम स्वरूप सारे भारत का व्यापारी वर्ग तो बदनाम हुआ ही किन्तु इससे राष्ट्र भी निन्दा का पात्र बना।

व्यापारी-वर्ग जब तक हक की कमाई में विश्वास नहीं करेगा तब तक उसका कल्याण सम्भव नहीं है। हक की कमाई फलती है और चोरी की चोर को छलती है और लोक को खलती है। चोर को प्रति-पल दण्ड मिलता रहता है। उसका मन कलंकित होने के कारण सदा शंकित रहता है और भयभीत रहता है कि कहीं उसका पाप प्रकाश में न आ जाये। जीवन का आनन्द मन की शान्ति में है, विक्षिप्तता में नहीं। काश! कि व्यापारी वर्ग ने इस रहस्य को समझा होता।

सन्तोष की सौरभ और लोभ की दुर्गन्ध कभी छिपाने से छिपती नहीं। यहाँ इस प्रसंग में आगरा के लाला बनारसीदास का चरित्र स्मरण हो आता है। आज से करीब तीन सौ वर्ष पूर्व आगरा में एक लाला बनारसीदास नाम के व्यापारी रहते थे। जरी के कपड़े खरीद कर, उनमें चाँदी निकाल कर बेचने का धन्धा करते थे। उनका [illegible] था। उन्होंने किसी जैन सन्त से यह नियम ले [illegible]

"डरने की कोई बात नहीं; भागने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं आकर अभी गठरी उठवा देता हूं।"

उन्होंने आकर गठरी चोर के सिर पर रखवादी और चोर निःशंक चला गया।

चोर के घर में उसकी माँ के अतिरिक्त कोई और सदस्य नहीं था। चोर ने अपनी माँ से कहा : 'माँ' आज तो चोरी करने के लिए ऐसा भाग्यवान् घर मिला कि घर के स्वामी ने स्वयं यह जरी की गठरी मेरे सिर पर रखवा दी।

माँ तुरन्त बोल उठी, 'बेटा' तो वह लाला बनारसी होगा। अरे वह तो बड़ा धर्मात्मा और हक की कमाई खाने वाला व्यक्ति है, तुमने उसके घर की चोरी करके बड़ा पाप किया है। सवेरा होते ही उसकी यह गठरी उसको वापिस भी कर आना और उससे इस अपराध के लिए क्षमा भी मांगना। मैं भी तेरे साथ चलूंगी और क्षमा मांगूंगी उससे तुम्हारे लिये।'

प्रातः होते ही माँ चोर-बेटे के सिर पर गठरी रखवा कर चलदी लाला बनारसी की दुकान की ओर। जरी की गठरी वापिस करके माँ ने क्षमा माँगी लाला बनारसी से, अपने पुत्र के अपराध के लिए। इस पर बनारसी बोला।

अरे बुढ़िया, तेरे बेटे ने चोरी की ही कब है जो तू क्षमा याचना कर रही है। चोरी तो होती है जो बिना आज्ञा के किसी की वस्तु को उठा लिया जाय। यह गठरी तो मैंने स्वयं तेरे बेटे के सिर पर रखवाई है, फिर यह चोरी कैसी ? एक बार दी गई वस्तु को मैं पुनः वापिस नहीं लिया करता। उस गठरी को न तो बनारसी ने वापिस लिया, न चोर और चोर की माँ ने। आखिर उसे बेचकर, उससे जो धन मिला उसे भिखारियों में बांट दिया गया। आगरे में उस युग में अनेकों चोर-व्यापारी होंगे जिनका आज कोई नाम भी नहीं जानता किन्तु लाला बनारसी दास का नाम तीन सौ साल बीतने के बाद आज भी जनता की जबान पर है।

चोरी केवल द्रव्य की या किसी ठोस वस्तु की ही नहीं होती किन्तु कर्तव्य की चोरी, विद्या की चोरी, ज्ञान की चोरी आदि अनेक प्रकार

की चोरियाँ होती हैं। जो जिस व्यक्ति का कर्तव्य है, उसे यदि वह सचाई से पालन नहीं करता तो वह कर्तव्य का चोर कहा जायेगा। राज्य कर्मचारी, बैंक कर्मचारी, किसी प्राइवेट-उद्योग का कर्मचारी मासिक वेतन लेता हुआ यदि अपने कर्त्तव्य का पालन सही ढंग से नहीं करता तो वह निश्चय ही कर्तव्य-चोर है। शिक्षक पारिश्रमिक लेकर भी यदि छात्रों को परिश्रम से नहीं पढ़ाता तो वह शिक्षा-चोर कहलायेगा। गुरु शिष्य से सेवा का लाभ उठाकर भी यदि उसे सच्चे ज्ञान से वंचित रखता है, तो वह ज्ञान-चोर होगा।

अहिंसा नामक तत्व से जैसे अन्य महाव्रत अनुप्राणित हैं, वैसे भी अस्तेय महाव्रत भी। अस्तेय में अहिंसा है और स्तेय में हिंसा। जिसका माल चुराया जायेगा उसका मन कितना दुःख पायेगा। किसी के मन को दुखाना हिंसा है। शास्त्र का तो यहाँ तक कथन है कि :--

एकस्यैकक्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते।
सपुत्र-पौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने॥
योग शास्त्र, २-६८

ब्रह्मचर्य दर्शन

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ।

सूत्रकृतांग, १-६-२३

अर्थात्—संसार में आत्मकल्याण निमित्त जितने भी तपों का विधान है, उन सब में श्रेष्ठतम ब्रह्मचर्य नाम का तप है।

शास्त्रकार का ब्रह्मचर्य महाव्रत को सब तपों में श्रेष्ठतम मानना सकारण है। *धर्म को उत्कृष्टतम मंगल की घोषणा करते हुए* शास्त्रकार कहते हैं :—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

दशवैकालिक, १-१

अर्थात—धर्म सबसे उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तपका नाम ही धर्म है। जिसका मन सदा धर्म में लीन रहता है, उसके चरणों में देवता भी नमस्कार करते हैं। दूसरे शब्दों में जो अहिंसा, संयम और तप की आराधना करते हैं, संसार की महानतम शक्तियाँ भी उनके सामने नतमस्तक हो जाती हैं।

धर्म की उक्त परिभाषा को दृष्टि में रखकर विचार करें तो ब्रह्मचर्य—महाव्रत का पालन धर्म का मूल सिद्ध होता है। या यों भी कह सकते हैं कि बिना ब्रह्मचर्य का पालन किये धर्म की सांगोपांग आराधना कदापि संभव नहीं है 'अहिंसा' जैन धर्म की रीढ़ की हड्डी है जिस पर श्रमण-संस्कृति का कलेवर आधारित है। ब्रह्मचर्य से पतित व्यक्ति किस प्रकार असंख्य जीवों की हिंसा का भाजन

है—इसका विस्तृत विवेचन जैन—वाङ्मय में यत्र-तत्र अंकित है। उस विवरण से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि 'ब्रह्मचर्य' महाव्रत का पालन न करने वाला व्यक्ति, 'अहिंसा-महाव्रत' का पालन करने में समर्थ नहीं हो सकता।

धर्म का दूसरा तत्व माना है 'संयम' को। ब्रह्मचर्य और संयम में महान् अन्तर है। ब्रह्मचर्य का क्षेत्र सीमित है यद्यपि उसका परिणाम या फल असीम है। संयम का क्षेत्र तो असीम है और उसका परिणाम भी असीम है। संयम को शास्त्रकार चार भागों में विभक्त करते हैं:

चउव्विहे संजमे···
मणसंजमे, कायसंजमे, उवगरण संजमे।
स्थानांग, ४-२

अर्थात्—संयम चार प्रकार का होता है—मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और सामग्री का संयम। गहराई से चिन्तन करने पर, आत्म-संयम, इन्द्रिय-संयम, आचार-संयम, विचार-संयम, आहार-संयम आदि-आदि सभी, उक्त शास्त्रविहित चारों संयमों के अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचर्य का क्षेत्र कामेन्द्रिय के नियंत्रण तक सीमित भी है और केन्द्रित भी। मन का, वाणी का और शरीर का संयम ब्रह्मचर्य के [illegible] पालन में शक्ति का संचार करता है। दूसरे शब्दों में संयम ब्रह्मचर्य का सहायक है और उसको शक्ति प्रदान करने वाला है। [illegible] शक्ति परीक्षित रहती है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन [illegible]

अहिंसा, संयम और तप प्रधान धर्म की आराधना करने वाले को तो केवल देवता ही वन्दना करने वाले शास्त्रकार ने बताये हैं किन्तु ब्रह्मचर्य—महाव्रत का पालन करने वाले के चरणों में तो देवताओं से लेकर किन्नर जाति के प्राणियों तक को मस्तक झुकाने का शास्त्र में उल्लेख है। इस सत्य का मुख्य कारण है, ब्रह्मचर्य—महाव्रत के पालन की दुष्करता। तभी तो शास्त्रकार कहते हैं :

उग्गं महव्वयं धारेयव्वं सुदुक्करं।
उत्तराध्ययन, १६-२८

अर्थात्—उस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अति कठिन कार्य है। ब्रह्मचर्य महाव्रत में अहिंसा का तत्व तो अन्तर्लीन है ही, संयम उसका सहायक है और स्वयं में उत्तम तप का यह प्रतीक है।

उक्त सत्य को ध्यान में रखकर, यदि हम यह कह दें कि ब्रह्मचर्य का पालन ही वास्तव में धर्म है या धर्म का दूसरा नाम ही ब्रह्मचर्य का पालन है तो अत्युक्ति नहीं होगी। ब्रह्मचर्य केवल सभी तपों में उत्तमतप ही नहीं है अपितु इसमें सभी तप अन्तर्लीन हो जाते हैं। केवल ब्रह्मचर्य के पालन करने से अन्य सभी व्रतों का पालन स्वत: हो जाता है। इस सत्य पर प्रकाश डालते हुए आगमकार कहते हैं :

एकंमि बंभचेरे जंमिय आराहियंमि,
आराहियं वयमिणं सव्वं……तम्हा
निउएण बंभचेरं चरियव्वं।
प्रश्नव्याकरण, ४-१

अर्थात्—जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना की हो, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतों की सम्यक् आराधना कर ली है—ऐसा समझना चाहिए। अत: कुशल साधक को ब्रह्मचर्य—व्रत का पूर्ण रूप में पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत की उत्तमता का और प्रमाण देते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

तं बंभं………वेरुलिओ चेव जहा मणिणं,
जहा मउडो चेव भूसणाणं, वत्थाणं चेव
खोमजुयलं, अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं, गोसीसं

चेव चंदणाणं, हिमवं चेव ओसहीणं,
सीतोदा चेव निन्नगाणं, उदहीसु जहा
सयंभूरमणो.........एरावण इव कुंजराणं,...
अभयदाणं......तित्थयरे चेव जहा मुणीणं,
............वणेसु जहा नन्दणवणं पवरं।

वही, ४-१

अर्थात्--जैसे मणियों में वैडूर्यमणि श्रेष्ठ है, भूषणों में मुकुट उत्तम है, वस्त्रों में क्षौमयुगल श्रेष्ठ है, पुष्पों में अरविन्द नाम का पुष्प उत्कृष्ट है, चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन प्रकृष्ट है, औषधियों वाले पर्वतों में हिमवान श्रेष्ठ है, समुद्रों में स्वयंभूरमण नाम का समुद्र बृहत्तम है, हाथियों में ऐरावत सर्वोत्तम है, स्वर्गों में ब्रह्म स्वर्ग उत्तम है, दानों में अभयदान प्रधान है, मुनियों में तीर्थंकर सर्व श्रेष्ठ हैं और वनों में जैसे नन्दनवन उत्कृष्टतम है, ठीक वैसे ही संसार में आत्म-कल्याण निमित्त जितने भी व्रत हैं, उन सब में ब्रह्मचर्य व्रत सर्वोत्तम है।

जैन धर्म शास्त्रों में सच्चा ऋषि, सच्चा मुनि, सच्चा संयमी और सच्चा भिक्षु उसी को स्वीकार किया गया है जो अविच्छिन्न ब्रह्मचर्य का पालन करता है:

स इसी, स मुणी, स संजए, स एव भिक्खू,
जे सुद्धं चरइ बंभचेरं।

वही, ४-१

[illegible] जैन धर्म का नाम चातुर्याम धर्म था। [illegible]

करना उचित समझा। अतः स्पष्ट रूप से हम यह कह सकते है कि ब्रह्मचर्य महाव्रत का समावेश भगवान् महावीर की जैन धर्म को मौलिक देन है।

परिभाषा

ब्रह्मचर्य की व्युत्पत्ति है—ब्रह्मणि-आत्मनि, चरण-रमण, इति ब्रह्मचर्यम्। अर्थात्—अपनी आत्मा का, अपनी आत्मा मे ही रमण परत्र नही ब्रह्मचर्य कहलाता है। दूसरे शब्दो मे, आत्मा की स्थिति, परिस्थिति नही, ब्रह्मचर्य की दशा कहलाती है। इसी सत्य की पुष्टि करते हुए आगमकार कहते है :

> जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया,
> हविज्ज जा जदिणो,
> विमुक्कपरदेह तित्तिस ॥
>
> भगवती आराधना, ८७८

अर्थात्—आत्मा को आत्मा मे चर्या—रमण करना, ब्रह्मचर्य कहलाता है। सच्चा ब्रह्मचारी परदेह मे प्रवृत्ति और तृप्ति प्राप्त नही करता, वह स्वयं की तृप्ति स्वय मे करता है।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि ब्रह्म का अर्थ है—शुद्ध, बुद्ध और निरजन ईश्वर, उसमे चर्या-रमण या एक रूप हो जाना 'ब्रह्मचर्य' है।

अर्थात्—आत्मा की भूमिका मे परमात्मा की भूमिका मे पहुँच जाना ब्रह्मचर्य है। तात्विक चिन्तन से यह स्पष्ट है कि दोनो प्रकार की ब्रह्मचर्य की परिभाषाओ का सार एक ही है। 'स्व' मे रमण करना या 'स्व' में रमण के द्वारा परमात्मरूप बन जाना, वास्तव में एक ही बात है। उक्त दोनों प्रकार की परिभाषाओ मे ब्रह्मचर्य नाम के चतुर्थ महाव्रत के चरम लक्ष्य आत्मा के पूर्ण विकास की झलक स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा ही जीव अपनी उच्चतम आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच सकता है, इस तथ्य का स्पष्ट भान भी उक्त विश्लेषण से मिल जाता है। संभवत इसी कारण शास्त्रकार कहते हैं :

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहापरे ॥
उत्त० १६-१७

अर्थात्—यह ब्रह्मचर्य-धर्म, नित्य, शाश्वत और जिन द्वारा उपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे।

पालन

जीव की सिद्धत्व की स्थिति के लिए ब्रह्मचर्य के पालन का शास्त्रीय विधान, अन्य व्रतों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य के महत्व को और भी चार चान्द लगाने वाला है। हमारी धारणा के अनुसार, सम्भवतः ब्रह्मचर्य की इसी उच्चता के कारण इसको सब तपों में श्रेष्ठतम माना है और यह स्वीकार किया है कि जिस व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली है, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतों का पालन कर लिया है— ऐसा समझ लेना चाहिए।

निःसन्देह ब्रह्मचर्य का पालन, आत्मपद से परमात्मपद तक पहुंचाने वाला है किन्तु ऐसा कथनमात्र सरल है, इसे क्रियान्वित करना सरल और सहज नहीं है। इसके पालन के लिए महान् आत्मिक और शारीरिक शक्ति अपेक्षित है। अल्प सामर्थ्य और शक्ति वाले जीव इसका पालन नहीं कर सकते। शास्त्रकार इस सत्य पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं :

[illegible] निःशीलैर्दीनैरक्षनिर्जितैः ।
[illegible] चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥

अर्थात्—जिस प्रकार लाख से बना हुआ घड़ा आग की गरमी पाकर पिघल जाता है, ठीक वैसे ही मतिमान पुरुष भी स्त्री का सम्पर्क पाकर पिघल जाता है और खिन्न होता है।

सूत्रकृतांग के अनुसार :

> जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमया।
> एवं लोगम्मि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥
>
> सूत्रकृतांग, १-३-४-१६

अर्थात्—जिस प्रकार सब नदियों में वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है, वैसे ही इस लोक में अविवेकी पुरुष के लिए स्त्रियों के प्रति होने वाले मोह या आकर्षण पर नियन्त्रण पालना अति दुस्तर है।

इसी काठिन्य को ध्यान में रखते हुए सम्भवतः जैनशास्त्रों में जैन-मुनियों के लिए उनके संयम की स्थिरता के निमित्त अत्यन्त कठिन नियमों के पालन का विधान किया है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार :

> विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीर परिमंडणं।
> बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए॥
>
> उत्त०, १६-६

अर्थात्—जैन भिक्षु को जो ब्रह्मचर्य की साधना में लीन है, किसी प्रकार का शरीर की शोभा बढ़ाने-वाला शृंगार नहीं करना चाहिए।

> सद्दे रूवे य गन्धे, रसे फासे तहेव य।
> पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥
>
> वही०, १६-१०

अर्थात्—ब्रह्मचारी मुनि शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पांच प्रकार के कामगुणों का सदा परित्याग कर दे।

और भी :

> जहा विरालावसहस्स मूले,
> न मूसगाणं वसही पसत्था॥
> एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे,
> न बंभयारिस्स खमो निवासो॥
>
> वही० ३२-१३

अर्थात्—जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहों का निवास खतरनाक होता है, वैसे ही स्त्रियों के निवास-स्थान के बीच ब्रह्मचारी मुनि का निवास कदापि अच्छा नहीं होता।

स्त्रियों की बस्ती में ब्रह्मचारी का निवास क्यों अनुचित है, इस पर प्रकाश डालते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं॥

दशवैकालिक सूत्रम्, ८-५४

अर्थात्—जिस प्रकार मुर्गी के बच्चे को बिल्ली द्वारा प्राणहरण का सदा भय बना रहता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी स्त्री सम्पर्क में आकर अपने ब्रह्मचर्य के भंग होने का भय बना रहता है। उस भय की निवृत्ति के लिए तथा धर्म ध्यान की स्थिरता के लिए :

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सऽरियज्झाणं जुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं॥

उत्तराध्ययन, ३२, १५

इसी सत्य की पुष्टि अन्य प्रकार से करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

मूलमेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सयं।

दशवैकालिक, ६-१६

अर्थात्—ब्रह्मचर्य का भंग, अधर्म का मूल है और महादोषो का स्थान है। आधुनिक वैज्ञानिक भाषा मे वीर्य को जिसकी रक्षा ब्रह्मचर्य द्वारा की जाती है (Energy) ऊर्जा या तेज के नामो से पुकारा जाता है। पातंजलयोगसूत्र के अनुसार :

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभ ।

अर्थात्—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले व्यक्तियों को वीर्य-रक्षा की उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि ही वास्तव मे मानव-जीवन की वास्तविक उपलब्धि है। वीर्य की स्थिरता ही जीवन है और वास्तविक जीवन का ही दूसरा नाम वीर्य की स्थिरता है। उसका नाश जीवन का नाश है। आयुर्वेद के ग्रन्थ 'चरकसंहिता' मे इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है

रस इक्षोर्यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा।

सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा॥

अर्थात्—जिस प्रकार इक्षु-दण्ड के कण-कण मे रस, दही के कण-कण मे घी और तिलो के कण-कण मे तेल व्याप्त रहता है, ठीक इसी प्रकार, मानव शरीर के प्रत्येक परमाणु में वीर्य व्याप्त और रमा हुआ रहता है।

इक्षु-दण्ड के कोल्हू मे पीडने पर और रस निकालने पर जैसे इक्षु-दण्ड या ईख निःसत्त्व छिलकों के रूप मे अवशिष्ट रह जाता है, दही से घी निकलने पर खट्टी छाछ बाकी रह जाती है और तिलों से तेल निकलने पर जैसे नीरस खल बाकी रह जाती है, ठीक इसी प्रकार शरीर मे वीर्य का क्षय होने के पश्चात्, शरीर निःसत्त्व शक्तिहीन, तेजहीन और अल्पायु बन जाता है। वीर्य-क्षय के परिणाम स्वरूप शरीर, क्षय और प्रमाद आदि भयंकर रोगों का शिकार भं

हो जाता है। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में जहाँ जीवन वरदान था, वहाँ उनके अभाव में जीवन अभिशाप बन जाता है। हमें बड़े खेद से कहना पड़ता है कि वर्तमान पीढ़ी के लोगों में, विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नवयुवकों में ब्रह्मचर्य की भावना लुप्त होती जा रही है। कामवासना को भड़काने वाले द्रव्यों (मद्य का सेवन, नशे की गोलियों का प्रयोग, गांजा, अफीम आदि का खाना पीना) के सेवन से उनके शरीर जर्जरित, असाध्य रोगाक्रान्त, अशान्त और क्लान्त हो रहे हैं। प्रमाद, अकालमृत्यु और आत्महत्याएँ काम के अतिमात्र सेवन के ही परिणाम हैं। आश्चर्य की यह बात है कि ब्रह्मचर्य के भंग के दुष्परिणाम को प्रत्यक्ष देखते हुए भी किसी की आँखें नहीं खुल रही हैं। वे पागलपन के अन्धकार में कुमार्ग की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। आसन्नमृत्यु वाले व्यक्ति को जैसे दीपक का प्रकाश नहीं सुहाता, ठीक वैसे ही व्यसन-ग्रस्त आज के नवयुवकों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा रुचिकर प्रतीत नहीं होती। जब तक वर्तमान पीढ़ी के लोग ब्रह्मचर्य के महत्त्व को नहीं समझते, तब तक वे स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीर की सर्वांगीण उन्नति प्राप्त नहीं कर सकते। अस्वस्थ मन और अस्वस्थ शरीर जीवन के नहीं, मृत्यु के प्रतीक होते हैं। मानव को जीवन प्रिय है अथवा मृत्यु, यह उसके स्वयं के सोचने की बात है। सन्तों का काम तो गुणों के सुपरिणाम और दुर्गुणों के दुष्परिणाम की ओर संकेत करना है गुणों की ओर प्रवृत्ति और दुर्गुणों की निवृत्ति की शिक्षा

६

अपरिग्रह दर्शन

भावार्थ :

अपरिग्रहवाद का विपरीतार्थक शब्द है 'परिग्रहवाद' जिसका अर्थ है आवश्यकता से अधिक संग्रह करना। मानव जीवन की सफलता या विफलता क्रमशः 'अपरिग्रह' और 'परिग्रह' इन दोनों को भली-भांति समझने मे निहित है। एक में जीवन का उत्थान है, कल्याण है और निर्माण है, तो दूसरे मे जीवन का पतन है, हानि है और विनाश है। जो विवेकशील हैं, वह जीवन के उत्थान की ओर प्रवृत्त होता है, और जो विवेकहीन है, वह जीवन के विनाश की ओर बढता है। संसार के प्राय. सभी महामानव मनुष्य को सन्मार्ग की ओर उन्मुख होने की सदा सन्मति देते आये हैं। भगवान् महावीर ने लोक कल्याण की भावना से कहा था :

> लोभ-कलि-कसाय-महक्खंधो
> चितासयनिचयविपुलसालो।
>
> प्रश्न०, १, ५

अर्थात्—परिग्रहरूप एक विशाल वृक्ष है जिसके स्कन्ध है : लोभ, क्लेश और कषाय। उस परिग्रह के वृक्ष की बड़ी ही सघन एवं विशाल शाखाएँ हैं अनेक प्रकार की चिन्ताएँ।

सागर में गागर :

शास्त्रकार ने शब्दों की इस छोटी-सी गागर मे महान् सागर भर दिया है। जीवन की विविध समस्याओं का, उलझनो का, सन्तापों का परितापों का, अन्तर्द्वन्दों का, आकस्मिक कर्मबन्धों का

निर्मम क्षणों के परिस्पन्दनों का उक्त सूत्ररूप शास्त्र-वचन में समाधान निहित है। जीवन की समस्याओं का समाधान, जीव अन्तर्जगत में न खोजकर बहिर्जगत में खोजता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके दुःख की ग्रन्थियाँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती जाती हैं। उसका सारा जीवन उनको सुलझाने में ही व्यतीत हो जाता है। वह उन ग्रन्थियों की उलझन में स्वयं उलझकर अपना जीवन तो भारस्वरूप बनाता ही है किन्तु जिस परिवार में, समाज में और राष्ट्र में वह रहता है, उसे भी महती हानि पहुँचाता है। यदि मानव अपनी दुःखद समस्याओं के मूल कारण को अन्तर्जगत में ही खोजने का प्रयत्न करता, तो उसकी सारी विषम समस्याएँ स्वतः हल हो सकती थीं। मनुष्य के दुःख का मूलकारण उसके बाहर नहीं किन्तु उसी के अन्दर है। मात्र दृष्टि परिवर्तन की आवश्यकता है।

इच्छाएँ और आवश्यकताएँ :

अर्थात्—जिस प्रकार आकाश का कहीं अन्त नहीं उसी प्रकार इच्छाओं का भी कहीं अन्त नहीं है।

> कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
> तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥
> उत्तराध्ययन, ८, १६

अर्थात्—धन धान्य से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को सौंप दिया जाये, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता। आत्मा की इच्छा का या तृष्णा का पूर्ण होना कदापि संभव नहीं है।

> जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
> दो मासकयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठियं॥
> वही, ८-१७

अर्थात्—ज्यों-ज्यों मनुष्य को लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों उसका लोभ अधिकाधिक के लिये बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार लाभ से लोभ की वृद्धि होती जाती है। दो मासे सोने से सन्तुष्ट होने वाला व्यक्ति करोड़ों से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाया।

लाभ और लोभ :

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि लाभ और लोभ के परिणाम-स्वरूप अर्जित किया हुआ धन क्या मनुष्य को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखता है? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। जीवन का सुख अर्जित धन में नहीं, वह तो त्याग में है, त्याग लोभी व्यक्ति कर नहीं सकता। इसका परिणाम होता है, सामाजिक विषमता। वर्तमान युग में हम प्रत्यक्ष रूप में देख रहे हैं कि कुछ लोगों के पास इतना धन संग्रह है, उन्हें चिन्ता है कि इसे कहाँ खर्च करें, कहाँ लगायें, इसके विपरीत ऐसे लोग या परिवार तो बहुत बड़ी संख्या में हैं जिनको यह चिन्ता है कि दो जून का अन्न जुटाने के लिए पैसा कहाँ से लायें? धनाढ्य परिवारों के सदस्य अधिक पौष्टिक भोजन खाने के कारण बीमार और रोगग्रस्त रहते हैं, और अकिंचन परिवारों के सदस्य सामान्य कोटि के खाद्यान्न के अभाव में ही जीर्ण शीर्ण होकर दम तोड़ देते हैं। निःसन्देह शोषक और शोषित दुःखी दोनों हैं किन्तु दो

के दुःखों के मूल कारण संग्रह या परिग्रह के पोपक, शोपक ही हैं। शोषकों ने अपनी संग्रह की प्रवृत्ति के कारण ही स्वयं के और दूसरों के जीवन को भार बना दिया है। यदि कोई एक व्यक्ति देश का सारा धन, अन्न-वस्त्र अपने ही खजाने और भण्डार में भर लेगा तो जन सामान्य के लिये उसका वितरण बन्द हो जाने से देशवासियों का जीवन अर्थ और अन्न-वस्त्र के संकट से ग्रस्त होना स्वाभाविक है।

बर्नार्डशा योरोप के प्रख्यात नाटककार थे। बड़े ही दुबले-पतले शरीर के थे। चर्चिल ब्रिटानिया के प्रधानमंत्री थे जो शरीर से मोटे ताजे थे। ये दोनों महापुरुष वर्तमान युग में हुए हैं। एक बार किसी सभा में दोनों की भेंट हो गई। दुबले-पतले, सूखे शरीर वाले बर्नार्डशा को देखकर चर्चिल साहब ने कहा: "आपको देखने से तो ऐसे लग रहा है जैसे आपको रोटी नसीब न होती हो और आप भूखे रहते हों। इस पर बर्नार्डशा ने उत्तर दिया; "आपको देखने से लोग तुरन्त समझ जाते हैं कि मैं [illegible]

गड़ी हुई है। आज के युग में जो सम्पन्न देश है, जिनके पास अपार अन्न-धन की राशि है, वे भी दूसरे देशों पर आक्रमण इसलिए करते हैं कि उन्हे लूटें, वहाँ अधिक कमाने के लिए अपनी मण्डियाँ स्थापित करें। उनका यह लोभ जब भयानक रूप धारण कर लेता है तो युद्ध मे परिणत हो जाता है। जन-संहार होता है, अत्याचार होता है और लूट का प्रसार होता है.।

राजपूत और वर्तमान युग .

राजपूत युग में राजाओ के परिग्रह का केन्द्र कोई सुन्दरी कुमारी होती थी :

> जिहि घर देखी सुन्दर बिटिया।
> तिहि घर जाई धरे हथियार॥

अर्थात्—जिस घराने में राजा, राणा या शक्तिशाली ठाकुर को यह पता लग जाता था कि अमुक अमीर की कन्या अति सुन्दरी है, तो वह अपने दलबल के साथ उस पर आक्रमण कर देता था। सबका लक्ष्य मात्र सुन्दरी को हथियाना होता था, जनता को लूट-पाट की शिकार बनाना नहीं, परन्तु आजकल के आक्रमणो का लक्ष्य लूट है। मुगल काल में तो यह लूट अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। सब कुछ पास मे होते हुए भी दूसरों पर अत्याचार करके उनका माल लूटना और उनकी हत्या करना—ये सब परिग्रह की भावना के परिणाम हैं। किसी भी लुटेरे ने परिग्रह की भावना से उत्पन्न होने वाले कषायों—क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर असंख्य प्राणियों को विनाश, दुःख और नरक के गर्त में धकेल दिया किन्तु इससे क्या वह स्वयं की तृष्णा की पूर्ति कर सका? इस प्रश्न का उत्तर निषेध में ही मिलता है। महमूद गजनवी और नादिरशाह जैसे लुटेरों ने भारत पर आक्रमण किये, मात्र इसको लूटने के लिए। नादिरशाह ने दिल्ली की सम्पत्ति हथियाने के लिए एक लाख तीस हजार इन्सानों को मौत के घाट उतार दिया था। वह अपार धन यहाँ से लूट कर ले गया। ऐसा ही महमूद गजनवी ने भी किया था। मृत्यु के समय क्या कुछ भी उनके साथ जा सका? सब यहीं छोड़कर चले गये। केवल मात्र अपयश के काले अक्षरों मे अपने इतिहास को और नाम को

अतएव संसार यदि सुख की नींद सोना चाहता है, युद्धों की विभीषिका से बचना चाहता है, सर्वनाश से अपनी रक्षा करना चाहता है, जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाना चाहता है, विषमता के दुष्परिणामों से त्राण पाना चाहता है और मानव होकर मानवता को पहचानना चाहता है तो उसे भगवान् महावीर के अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त को अपनाना होगा, जीवन में उतारना होगा और उस पर निरन्तर अमल करना होगा। भगवान् महावीर के निम्नलिखित उपदेश को कभी नहीं भूलना चाहिए

संतोसपाहन्नरए स पुज्जो।

दशवैकालिक, ९, ३, ५

अर्थात्—जो सन्तोष के पथ पर चलता है, वही व्यक्ति पूजा, प्रतिष्ठा के योग्य है 'परिग्रहवादी' धनी नहीं।

इस परिभाषा में शास्त्रकार ने संयम के क्षेत्र को और भी विस्तृत बनाते हुए कहा है कि जीव का द्रव्य या भावमयी किसी भी प्रकार की हिंसा में प्रवृत्त न होना, असत्य भाषण का त्याग करना, चौर्य कर्म से दूर रहना, ब्रह्मचर्य से कभी च्युत न होना, और परिग्रह का त्याग करना—संयम कहलाता है।

इस परिभाषा से हम इस निर्णय पर भी पहुँचते हैं कि पांचों महाव्रतों का पालन संयम है और उनका त्याग उपेक्षा या अनाचरण असंयम है। यह बात संक्षेप में तो स्पष्ट ही है कि पांच महाव्रतों के पालन से पापों का जीव में निरोध हो जाता है और अनाचरण से पापों का जीव में आस्रव होता है परन्तु सामान्य बुद्धि के पाठकों के लिये इस विषय का विश्लेषण आवश्यक है। विषय का स्पष्टीकरण विश्लेषण से ही सम्भव हो सकेगा।

हिंसा-संयम :

ऊपर की गई संयम की परिभाषा से यह स्पष्ट हो गया है कि जीवन के किसी भी ऐसे कार्य में प्रवृत्त होना जिसके आचरण से जीव को पाप लगता हो असंयम है और ऐसा कार्य करना जिससे पाप का निरोध होता है वह संयम है। संक्षेप में यदि हम यह कह दें :

पापात्यन्तनिरोधः संयमः।

अर्थात्—"पाप का पूर्णरूपेण निरोध ही संयम है", तो अधिक उपयुक्त रहेगा। हिंसा तो प्रत्यक्ष रूप में पाप का कारण है ही। जो जीव हिंसा में प्रवृत्त है वह ही घोर पापाचरण करने वाला है। जहाँ हिंसा रहेगी वहाँ संयम का अस्तित्व असम्भव है और यहाँ संयम है वहाँ हिंसा का निश्चय ही अभाव होगा। संयम पालन करने वाले साधक के लिये भगवान् ने प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा की भावना रखने का उपदेश दिया है :

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥
दशवैकालिक० ६-६

अर्थात्—भगवान् महावीर ने अठारह धर्म स्थानों में सब से पहला स्थान अहिंसा बताया है। सब जीवों पर संयम रखना अर्थात्—

अर्थात्--अहिंसा को भगवान् ने जीवों के लिये कल्याणकारी बताया है। सभी जीवों के प्रति संयम रखना ही अहिंसा का सच्चा स्वरूप है।

अहिंसा परम उत्कृष्ट धर्म है और अहिंसा ही परम संयम है। अहिंसा परमदान है और अहिंसा परम तप है।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि हिंसा से पाप का आस्रव होता है, इस लिये सब प्रकार की हिंसा का त्याग संयम है।

असत्य संयम :

असत्य भाषण को शास्त्रकारों ने पाप ही नहीं, महापाप बताया है :

नानृतात् पातकं परम्
महाभारत, शान्ति पर्व, १६२, २४

महापाप से बचने के लिये असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण अत्यावश्यक है। जो जीव सत्य का आश्रय लेता है उसके लिये जैनागम का कथन है :

सच्चम्मि धिईं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी
सव्वं पावं कम्मं झोसइ।

आचारांग, ३.२

अर्थात्--सत्य में दृढ़ रहो, सत्य में व्यवस्थित बुद्धिमान् व्यक्ति सभी प्रकार के पापकर्म का क्षय कर देता है।

सत्य की महिमा निःसन्देह इतनी महान् बताई है किन्तु यदि जीवन में कोई ऐसा अवसर आ जाये जहाँ सत्य बोलने के कारण संयम की हानि होती हो तो उसके लिये शास्त्र का निर्देश है कि ऐसा सत्य जिसके बोलने से संयम को धक्का लगता हो, कभी नहीं बोलना चाहिये,

सच्चं वि य संजमस्स उवरोहकारगं किंचि ण वत्तव्वं
प्रश्न व्याकरण, सं० २

अर्थात्— बिना दी हुई वस्तु को बिना आज्ञा के ग्रहण कर लेना स्तेय-चोरी कहलाता है। यह स्तेय भी एक महान् पाप है। स्तेय कर्म में केवल एक प्राणी का जीव दुःख नही पाता किन्तु अनेक प्राणी दुःख के शिकार बनते है :

> एकस्यैकक्षणं दुःखमार्यमाणस्य जायते।
> सुपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने ॥
>
> योगशास्त्र, २,६८

अर्थात्—मारे जाने वाले जीव को तो अकेले को ही एक क्षण के लिये दुःख होता है किन्तु जिसका धन अपहरण कर लिया जाता है उसे, उसके पुत्र और पौत्रो को तो जीवन भर दुःख उठाना पडता है। इसलिये किसी के धन को चुराना तो किसी की हत्या से भी बढकर होता है। यही कारण है कि चोरी को भी एक भयानक पाप माना गया है और चोरी करने वाले के लिये बड़े ही कठोर नारकीय दण्ड का विधान है :

> विशन्ति नरकं घोरं, दुःखज्वालाकरालितम्।
> अमुत्र नियत मूढाः प्राणिनश्चौर्यचर्विताः ॥
>
> ज्ञानार्णव पृ०, १३९

अर्थात्—चोरी करने वाले मूढ पुरुष परभव मे दुःखरूपी ज्वाला मे भरे भयानक घोर नरक मे निश्चित रूप से निवास करते हैं।

चौर्यकर्म का तो दूसरा नाम ही शास्त्र मे असयम रखा है :

> चोरिक्कं परहडं अदत्त कूरकडं असंजमो।
>
> प्रश्न व्याकरण, ३

अब्रह्मचर्य संयम :

अधर्म को पाप का मूल माना गया है और अब्रह्मचर्य को सभी प्रकार के अधर्मों का मूल माना गया है :

> मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सय।
>
> दशवैकालिक, ६,१७

संभव है यही कारण है कि जैनागमों में जो जीव पाप की निन्दा में प्रवृत्त है उसे संयमी और जो पाप की उपेक्षा करता है, उसे असंयमी कहा गया है :

गरहा संजमें, नो अगरहा संयमे ।

भगवती सूत्र, १,६

आत्मा की तो पाप से रक्षा करनी ही चाहिये और वह तभी हो सकती है, जब जीव में संयम की आराधना हो :

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो ।

दशवैकालिक, २,१६

बौद्ध ग्रन्थ थेर गाथा में तो :

यो कामे कामयति, दुक्खं सो कामयति ।

थेरगाथा, १,६३

अर्थात्—जो अब्रह्मचर्य या असंयम की कामना करता है, वह मानो दुःख की ही कामना करता है, ऐसा कथन है ।

जैनशास्त्र में तो असंयम को साक्षात शस्त्र ही कहा है। [illegible] हत्याजन्य पाप का उत्पादक और पाप को बाढ़ाने [illegible] है, [illegible] ही असंयम है—संयम से पतित होना है :

भावे य असंजमो सत्थं ।

आचारांग निर्युक्ति, ९६

[illegible] संसार सागर को तैर कर परमपद [illegible] । निःश्रेयस की प्राप्ति तो संयम की साधना [illegible] कितने सुन्दर रूपक द्वारा इस भाव की [illegible]

[illegible] नावा, न सा पारस्सगामिणी ।
[illegible] नावा, सा उ पारस्सगामिणी ॥

उत्तराध्ययन, २३,७१

[illegible]

हम ऊपर अपनी सयम की परिभाषा मे यह उल्लेख कर आये है कि पाप की अत्यन्त निवृत्ति का नाम ही सयम है। पाप की जननी हिसा है, इस लिये सयम साधना के लिये "अहिंसा के परमधर्म" को अपनाये बिना साधक पूर्णरूपेण सयमी नही बन सकता। अहिंसा तो जैन धर्म की रीढ की हड्डी है, आधारशिला है और प्राण है। यही कारण है कि "समवायाग सूत्र" के १७वे समवाय मे वर्णित १७ प्रकार के सयमों मे और "आवश्यक सूत्र" के "प्रतिक्रमणाध्ययन" मे विश्लेषित १७ प्रकार के असयमों मे सर्वत्र अहिंसा के सिद्धान्त का साम्राज्य है। प्रत्येक 'प्रकार' मे जीव की हिंसा से निवृत्ति के लिये प्रेरणा अन्तर्निहित है।

सम्यग्-ज्ञान परिश्लेषण

ज्ञान जीवन का सार :

णाणं णरस्स सारो

दर्शनपाहुड, ३१

अर्थात्—मानव जीवन का सार ज्ञान ही है।

जहा सूई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ।
एवं जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, २९, ५९

अर्थात्—जिस प्रकार धागे में पिरोई हुई सूई कहीं गिर भी जाये तो वह गुम नहीं [illegible], सरलता से मिल जाती है; ठीक इसी प्रकार जिस आत्मा में ज्ञानरूपी धागा पिरोया जा चुका है, वह आत्मा संसार में [illegible] नहीं [illegible]।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

का सम्बन्ध है किन्तु जैन सिद्धान्त दोनो में कोई भेद स्वीकार नही करता। यही कारण है कि वह स्वभाव से ही आत्मा को अनन्तज्ञान-शक्ति-सम्पन्न मानता है। जब तक आत्मा ज्ञानावरणकर्म से आच्छादित रहती है, तब तक उसका प्रकाश अवरुद्ध रहता है। साधना के द्वारा आवरण हटने के पश्चात् आत्मा पूर्णरूपेण शुद्ध ज्ञान स्वरूप, स्वस्थित, केवली या सर्वज्ञता की स्थिति को प्राप्त करती है। यह वह स्थिति है जिसमें पहुँचकर सहज ज्ञानमय आत्मा 'स्व' और 'पर' दोनो को प्रकाशमय बना देता है। अन्य दर्शनों मे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की जो त्रिपुटी मानी जाती है, उसके विषय मे जैन दर्शन अपनी स्वतन्त्र मान्यता रखता है। वह तीनो मे एकान्तत पृथक्त्व स्वीकार नही करता। आत्मा ज्ञाता भी है, अपने सहज गुण ज्ञान से सर्वथा अभिन्न होने के कारण ज्ञानरूप भी है, स्वय प्रतिभा की सम्पन्नता के कारण ज्ञेय भी है।

ज्ञान के प्रकार :

सामान्य रूप से ज्ञान दो प्रकार का होता है, यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थज्ञान सम्यग्-ज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है और अयथार्थ ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। ज्ञान की यथार्थता के विषय मे दार्शनिक दृष्टिकोण और आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनी-अपनी भिन्नता लिये हुए हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण में उस ज्ञान को यथार्थ माना गया है जो संशय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित हो किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो उसी ज्ञान को यथार्थ कहा जा सकता है जिसमें किसी भी प्रकार का मिथ्यात्व न हो। उस ज्ञान में मिथ्यात्व होगा तो वह यथार्थज्ञान न रहकर मिथ्याज्ञान हो जायेगा। जिस जीव या आत्मा मे सम्यग्दर्शन का अभिनिवेश हो चुका है, उसे ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्यग्-ज्ञानवान् कहा जाता है। जिस ज्ञान की पृष्ठभूमि मे संशय, विपर्यास और अनध्यवसाय न हो, जिसका लक्ष्य दूषित हो, आत्मविकास की प्रवृत्ति न हो, दुराग्रह हो, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उसे अयथार्थ ज्ञान ही कहा जायेगा।

यद्यपि ज्ञान अपने सहजस्वरूप मे तो एक ही है किन्तु ज्ञान की

तरतम अवस्थाओं के कारण और ज्ञान के विषयों की विविधता के कारण उसे पाँच भागों में विभक्त किया गया है :

> तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
> ओहि नाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं॥

उत्तराध्ययन, २८,४

अर्थात्—

१—मतिज्ञान,
२—श्रुतज्ञान,
३—अवधिज्ञान,
४—मनःपर्याय ज्ञान,
५—केवल ज्ञान,

> मतिश्रुतावधिमनःपर्याय केवलानि ज्ञानम्।

तत्वार्थसूत्राणि, १,६

ये पाँच ज्ञान के भेद हैं। इन पाँचों प्रकार के ज्ञानों में से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष माना गया है :

> तत्प्रमाणे । आद्ये परोक्षम्।

वही, १,१०,११

[illegible] और मनःपर्याय को प्रत्यक्ष माना गया है।

> प्रत्यक्षमन्यत्।

वही, १,१२

वैदिक दर्शनों में :

> इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।

[illegible]

ज्ञान और मनोजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष की कोटि में नही माना। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार तो सीधे आत्मा से होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा है। वहाँ इन्द्रियों की और मन की सहायता की आवश्यकता को स्वीकार नही किया गया। निस्सन्देह लोक व्यवहार मे तो इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है किन्तु पारमार्थिक रूप मे उसे स्वीकार नही किया गया।

मतिज्ञान

मतिज्ञान के कारण भेद के कारण दो भेद हैं—

१—इन्द्रियजन्यज्ञान,

२—मनोजन्यज्ञान।

विषय भेद से मतिज्ञान के पाँच भेद किये गये है—

> मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
>
> वही, १,१३

अर्थात्—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोध ये मतिज्ञान के पाँच भेद है।

इन्द्रिय और मन के संयोग से उत्पन्न होने वाले वर्तमान ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति, स्मृति-ज्ञान का विषय है। पूर्वानुभूत और वर्तमान कालानुभूत वस्तुओं मे एकत्व की स्थापना को संज्ञा ज्ञान कहते हैं। भविष्य के ऊपर चिन्तन करना, चिन्ताज्ञान कहलाता है। अनुमान का दूसरा नाम आभिनिबोध है।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान का साधारण अर्थ है—सुना हुआ ज्ञान। श्रुतज्ञान से पहले मतिज्ञान का होना परमावश्यक है। श्रवण का शब्दों का बोध होना मतिज्ञान है किन्तु शब्दसमूह के वाक्यार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है। वास्तव मे मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान उसका कार्य है। मतिज्ञान होगा तभी श्रुतज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है, अन्यथा नही। परोक्ष-दृष्टि से देखने से यद्यपि दोनो ज्ञान एक ही कोटि के है किन्तु तो भी प्रकृति मे उन दोनों मे अन्तर है। कार्य कारण की भिन्नता के अतिरिक्त मतिज्ञान तो प्रधान रूप से वर्तमान से सम्बन्ध रखता है।

(९) अनुत्तरोपपातिक, (१०) प्रश्न व्याकरण, (११) विपाक, (१२) दृष्टिवाद।

जैन धर्म मे इन बारह अंगों को समग्र जैनवाङ्मय का मूलाधार माना जाता है। इन अगों के आधार पर आचार्यों द्वारा रचे गये अनेक ग्रन्थ अंगबाह्य कहलाते है। इन अगबाह्य ग्रन्थों की सख्या विशाल है। बारह उपागसूत्र, चार मूलसूत्र, चार छेदसूत्र, आवश्यक और फिर प्राय इन सब की व्याख्या के रूप मे रचित चूर्णि, निर्युक्ति और टीका के अनेक ग्रन्थो का जैनाचार्यों और जैन विद्वानो ने प्रणयन करके जैनवाङ्मय को बडा ही समृद्ध बनाया है। आगम साहित्य के अतिरिक्त दर्शन साहित्य के निर्माण मे भी जैनाचार्यों ने अपनी, प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया है। कोई भी साहित्य का क्षेत्र उनकी साहित्य निर्माण की प्रतिभा से अछूता नही रहा। दर्शन, अध्यात्म, व्याकरण, अलंकार, छन्द, कोष, काव्य, आयुर्वेद, ज्योतिष, मत्रशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि सभी प्रकार के विषयो पर जैनाचार्य और मनीषियो ने मौलिक रचनाएँ करके भारतीय साहित्य की समृद्धि मे महान् प्रशसनीय योगदान दिया है।

अवधिज्ञान

"अवधि" का अर्थ है "सीमा या मर्यादा"। जिस ज्ञान मे इन्द्रियो की और मन की सहायता के बिना ही आत्मा अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा रूपी पदार्थों को किसी सीमा तक जानने लगता है, वह "अवधिज्ञान" के नाम से जाना जाता है।

तत्वार्थसूत्र के अनुसार—

> **द्विविधोऽवधि।**
> **तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।**
> **यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्प शेषाणम्।**
> **तत्वार्थसूत्राणि, १,२१,२३**

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है। उन दोनो मे से भवप्रत्यय, नारक और देवो को होता है। "यथोक्त निमित्तःक्षयोपशमजन्यमवधि छः प्रकार का होता है जो शेष अर्थात्—तिर्यंच तथा मनुष्यों को होता है। सरल शब्दो मे अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और [illegible]

है। इसके अतिरिक्त ऋजुमति मन.पर्यायज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् कभी चला भी जाता है किन्तु विपुल-मति मन पर्यायज्ञान तो केवल ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहता है। इसके अतिरिक्त :

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन पर्याययो.।

तत्वार्थ, १, २६

अर्थात्—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय द्वारा भी अवधि और मनः पर्याय का अन्तर जाना जा सकता है। यद्यपि अवधि और मनः पर्याय ये दोनों अपूर्ण प्रत्यक्ष रूप में समान हैं, तो भी दोनो मे कई प्रकार से भिन्नता है। जैसे विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत। स्वामिकृत और विषयकृत मन पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशेष रूप से जानना है, इसलिए वह इससे विशुद्धतर है। अवधिज्ञान का क्षेत्र अगुल के असख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है और मन-पर्यायज्ञान का क्षेत्र तो मानुपोत्तर पर्वतपर्यन्त ही है। अवधिज्ञान के स्वामी चारो गति वाले हो सकते है परन्तु मन पर्याय के स्वामी केवल संयत मनुष्य हो सकते हैं। अवधि का विषय कतिपय पर्याय-सहित रूपी द्रव्य है परन्तु मन पर्याय का विषय तो केवल उसका अनन्तवा भाग है।

तदनन्तभागे मन.पर्यायस्य।

वही, १, २६

जिस व्यक्ति का संयम उत्कृष्टता की चरम सीमा को पहुँच गया है और जिसका अन्त करण पूर्णरूपेण निर्मल हो चुका है, वही मन-पर्यायः ज्ञान की उपलब्धि कर सकता है। संयम की साधना मनुष्य योनि में ही संभव है, इस कारण यह ज्ञान मनुष्य को ही हो सकता है। यह वह ज्ञान है जिसके द्वारा किसी भी समनस्क व्यक्ति के मनोभावों को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है।

केवल ज्ञान

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।

वही, १, ३०

अर्थात्—केवल ज्ञान की प्रवृत्ति सर्वद्रव्य और सर्व पर्यायों में मानी गई है।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के सम्पूर्ण भावों को जान सके वह सब वस्तुओं के सम्पूर्ण भावों को भी ग्रहण कर सकता है। इसी भाव को पूर्णज्ञान भी कहते हैं और केवल ज्ञान इसी का दूसरा नाम है। जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान अनन्त और असीम है। केवल ज्ञान, ज्ञान की उच्चतम स्थिति का प्रतीक है। जिस आत्मा को इस ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है या दूसरे शब्दों में जो जीव पूर्णज्ञानमय बन जाता है, वह तीनों लोकों की और तीनों कालों की सम्पूर्ण वस्तुओं को एक ही समय में जान सकता है। आगम में इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है—

नाणेण जाणई भावे।

उत्तराध्ययन, २८, ३५

नाण संपन्नयाए जीवे।
सव्वभावाहिगमं जणयइ॥

वही, २९,५९

मे है, इसलिए उस पर मिथ्यात्व के प्रभाव का प्रश्न ही पैदा नही होता।

संक्षेप में केवल ज्ञान आत्म विकास की चरम सीमा है। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञान को आध्यात्मिक संहिता मे अन्य आध्यात्मिक तत्वों की अपेक्षा प्रथम स्थान दिया गया है।

पढमं नाण

दशवैकालिकसूत्रम्, ४,१०

केवल ज्ञानी बनने की सामर्थ्य रखता है, उसे शुद्ध बुद्ध, निरंजन और संसार की माया से परिवर्जित कहा गया है और जिसको वेदान्त दर्शन में साक्षात् पर-ब्रह्म के नाम से पुकारा गया है, तब वह शरीर की कारागार में बन्द क्यों है? यदि जीव नित्य है तो वह मृत्यु का शिकार क्यों बन जाता है? अमूर्तस्वरूप होता हुआ, वह मूर्त से बद्ध क्यों है? एक ही माता पिता की भिन्न-भिन्न सन्ताने भिन्न-भिन्न प्रकृति वाली और शुभ, अशुभ परिणामों वाली क्यों है? इत्यादि अनेक प्रकार के ऐसे जटिल प्रश्न हैं जिनका उत्तर कर्म सिद्धान्त की सत्ता को स्वीकार किये बिना नहीं दिया जा सकता।

कर्मस्वरूप :

कर्म न तो संस्कार मात्र ही है और न ही वासना रूप ही। यह तो पौद्गलिक है। जैन दर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल का बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है और इस बन्ध के कारण है, राग-द्वेषादि भाव। पुद्गल की तेईस वर्गणाओं में से एक कार्मणवर्गणा भी है जो सर्वत्र व्यापक रूप में विद्यमान रहती है। यह कार्मण-वर्गणा ही प्रत्येक जीव की राग-द्वेष में लिप्त करती है, उसमें मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य के रूप में जीव में प्रवेश पाती है और जीव में राग-द्वेषरूप भावों का निमित्त पाकर जीव से बंध जाती है। इस बंध के परिणाम स्वरूप ही समय समय पर जीव को शुभ या अशुभ फलों की प्राप्ति होती रहती है। दूसरे शब्दों में जब राग और द्वेष से आयुत जीव अच्छे या बुरे कर्मों में प्रवृत्ति करता है, तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करता है[1]। इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कर्म एक मूर्त पदार्थ है जो जीव की राग द्वेष में प्रवृत्ति के कारण बंध को प्राप्त हो जाता है। जैन वाङ्मय में कर्म को स्वतन्त्र तत्व के रूप में माना है। कर्म को अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध कहा गया है। कर्म की तीन अवस्थाएँ मानी गई है। समस्त विश्व में जीवात्मा की शुभ या अशुभ प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप कर्म जीवात्मा के साथ बंधते जाते है। उनकी इस स्थिति को बंधावस्था कहा गया है। बंधन के पश्चात् कर्म सत्ता में आ जाते है। इसी [illegible] कर्मों परिपाक होता रहता है। परिपाक के पश्चात

मिलता है, वह कर्मों की उदयावस्था कहलाती है। अन्य दर्शनों में जो कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध नाम की तीन कोटियाँ बताई गई हैं उनमें और जैन दर्शन की बंध, सत् और उदय की अवस्थाओं में विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता।

कर्मफल प्रक्रिया :

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्मों का फल प्रदान करने वाला ईश्वर

में उन्माद पैदा हो जाता है और उसकी सारी अवस्था परिवर्तित हो जाती है, ठीक इसी प्रकार जीव के साथ जब कर्म का बंध होता है तो उसकी अवस्था में भी परिवर्तन पैदा हो जाता है। शरीर पौद्‌गलिक है। यदि आहारादि मनोवांछित सामग्री उपलब्ध हो जाये तो सुख की अनुभूति होती है, और यदि कोई शरीर पर शस्त्र का प्रहार कर दे तो दुःख की अनुभूति होती है। आहार और शस्त्र दोनों पौद्‌गलिक हैं, इस कारण सुख-दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्‌गलिक है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध :

यह पहले बताया जा चुका है कि कर्म मूर्त द्रव्य है आत्मा अमूर्त है। मूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध तो हम देखते हैं किन्तु अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध किस प्रकार सम्भव होगा? इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तवाद देता है। अनादि काल से कर्मबद्ध विकारी आत्माएँ दृष्टिगोचर होती हैं। ये आत्माएँ कथंचित् मूर्त भी हैं और कथंचित् अमूर्त भी। स्वस्वरूप की अपेक्षा से अमूर्त हैं और संसारी दशा की अपेक्षा से मूर्त हैं। इसी दृष्टिकोण से जीव दो प्रकार के माने जाते हैं : रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी है और संसारी जीव रूपी। जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध अवश्य है किन्तु जो जीव एक बार कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है वह फिर कर्म बंधन में नहीं पड़ता। जीव जन्म-मरण की धारा में तब तक पड़ा रहेगा जब तक राग और द्वेषरूप परिणाम उसमें विद्यमान हैं। इन परिणामों के कारण ही कर्मों का बंध होता है। कर्मों के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म से शरीर की प्राप्ति होती है, शरीर से इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करने से कुछ विषयों के प्रति राग और कुछ के प्रति द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जीव के भावों द्वारा कर्म बंध और कर्म बंध से [illegible] होते हैं और जीव संसार-चक्र में भ्रमण करता रहता है। [illegible] की अपेक्षा से यदि हम इस संसार-चक्र को देखें, [illegible] अनन्त है, भव्य जीव की अपेक्षा से [illegible] सान्त है।

सारांश यह है कि यह जीव अनादि काल से कर्मबद्ध होने के कारण अशुद्ध है और जब तक यह अशुद्ध रहेगा तब तक संसारचक्र या जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। बन्ध के मूल कारण राग द्वेषादि का विनाश होते ही संसारचक्र समाप्त हो जाता है।

कर्मबन्धन का कारण :

लिया जाये, और दीवार सूखी कर दी जाये तो धूल का आगमन और निर्गमन तो नहीं रुकेगा किन्तु उसका चिपकना बन्द हो जायेगा। इस उदाहरण से साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मों का अन्तर भी भली-भांति स्पष्ट हो जाता है। कर्म परमाणुओं का आगमन योग शक्ति के बलाबल पर निर्भर करता है किन्तु बन्धन की तीव्रता-मन्दता या चिपकन कषायों के भाव अभाव पर निर्भर करती है।

कर्मों का वर्गीकरण :

जीव के अध्यवसाय और मनोविकार संख्यातीत हैं। एक ही प्राणी के अध्यवसाय और मनोविकार क्षण-क्षण में परिवर्तन शील हैं और क्षण-क्षण में नये उत्पन्न होते रहते है। जैसे उनकी सख्या अनन्त है, वैसे ही कर्मों की सख्या भी अनन्त है। कर्मों का स्वभाव, स्थितिकाल परिणाम और प्रभाव जीव के अध्यवसायो के अनुरूप ही निश्चित हुआ करता है। स्वभाव के आधार पर कर्म के आठ भेद किये गये है।

१—ज्ञानावरण
२—दर्शनावरण
३—वेदनीय
४—मोहनीय
५—आयुष्य
६—नाम
७—गोत्र और
८—अन्तराय[11]

ज्ञानावरण :

जिस प्रकार, आकाश मण्डल में बादलों के छा जाने से सूर्य का प्रकाश रुक जाता है, उसी प्रकार जब ज्ञान गुण पर कर्म पुद्गल छा जाते हैं तो जीव की वास्तविक चेतना को मूर्छित बना देते हैं। ये कर्मपुद्गल ज्ञानावरण स्वभाव वाले कहे जाते हैं। ज्ञान पांच प्रकार के हैं, इस कारण उन्हें आवृत करने वाला ज्ञानावरण कर्म भी पांच प्रकार का होता है।

१—मतिज्ञानावरण
२—श्रुतज्ञानावरण

३—अवधिज्ञानावरण
४—मनः पर्यायज्ञानावरण
५—केवलज्ञानावरण[१२]

दर्शनावरण :

वह कर्म जो आत्मा के दर्शन गुण को बाधा पहुंचाये, वह दर्शनावरण कर्म कहलाता है। इसके भी नौ भेद हैं जो निम्नलिखित हैं :

१—निद्रा
२—निद्रानिद्रा
३—प्रचला
४—प्रचला-प्रचला
५—स्त्यानगृद्धि
६—चक्षु
७—अचक्षु
८—अवधि
९—केवल[११]

वेदनीय

वेदनीय कर्म भी दो प्रकार का होता है, १—सातावेदनीय और २—असातावेदनीय। जिस कर्म का उदय प्राणी में सुख की उत्पत्ति [illegible] है, वह सातावेदनीय कर्म होता है जिस कर्म के [illegible]

उद्धरण

१. जैनसिद्धान्त दीपिका, ४, १

आत्मप्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म ।

२. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापना, गाथा, १८९

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोस जुदो
त पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि भावेहिं ॥

३. वेदान्तदर्शन, ३, २, ३८, ३९

फलमत उपपत्तेः ।

श्रुतत्वाच्च ।

४. [illegible]

१०. वही अ० ८, सू०, २-३
सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान्
पुद्गलानादत्ते। स बन्ध ।

११. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० ३३, गाथा, २, ३
नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोह, आउकम्मं तहेव य ।।
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ।।

१२. वही सूत्र, ४
णाणावरणं पंचविह, सुयं अभिणिवोहियं ।
ओहि नाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ।।

१३. वही, सू०, ५, ६

१४. वही, सू०, ७
वेयणीयं पिय दुविहं, सायमसायं च आहिय ।

१५. वही, सू०, ८
मोहणिज्जंपि दुविहं, दंसणे चरणे तहा ।

संस्कृत मे लिश् धातु से यत्-टाप् प्रत्यय करने से लेश्या रूप की सिद्धि होती है । लिश् धातु से रूप बनते हैं "लिशति" और "लिश्यति" ।

पाली मे संस्कृत का लेश्या और प्राकृत के लेसा और लेस्सा ये तीनो रूप उपलब्ध नही होते । वहाँ "लेस" शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है । वहा लेस के अर्थ है कण, नकली, बहाना और चालाकी । पाली-अंगरेजी कोश के अनुसार "लेस" के दस भेद बताये हैं जो इस प्रकार है ।

जाति, नाम, गोत्र, लिंग अपत्ति, पत्र, चीवर, उपाध्याय, आचार्य और सेनासन ।

लेश्या की परिभाषा :

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से लेश्या की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं किन्तु सामान्य रूप से भावार्थ सबका प्रायः एक ही है ।

अभयदेव सूरि :

(क) "कृष्णादिद्रव्यसान्निध्य—
जनितोजीवपरिणामो-लेश्या"
भग० श०, १, उ० १ प्र० ५३ की टीका,

(ख) आत्मनि कर्मपुद्गलानां लेशनात्-संश्लेषणात् लेश्या, योग परिणामश्चैता, योगनिरोधे लेश्यानाम् भावात् योगश्च शरीरनामकर्म-परिणतिविशेषः ।

भग०, श० १ उ० २, प्र० ६४ की टीका,

(ग) उच्यते, लिप्यते-श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेनि लेश्या ।

पण्णवणा सुत्तं, पं० १७, प्रारंभिक टीका में

अकलंक देव—

"कषायोदयरंजितायोगप्रवृत्तिलेश्या"

राज०, अ०, २, सूत्र, ६

"कषायश्लेष प्रकर्षापकर्षयुक्त योगप्रवृत्तिर्लेश्या"

राज०, अ०, ६, सूत्र, ६,

सिद्धसेन गणि,

लिश्यन्ते-इति लेश्या, मनो-योगावष्टम्भजनितपरिणामः,
आत्मना सह लिश्यते एकी भवतीत्यर्थः।

सिद्ध० अ० २, सूत्र, ६

विद्यानंदि :

कषायोदयतो योगः प्रवृत्तिरुपदर्शिता।
लेश्या जीवस्य कृष्णादि षड्भेदाभावतोऽनघैः॥

श्लो० अ०, २, सूत्र ६

[illegible] द्वारा उक्त प्रमाण-[illegible]।

कृष्णादि द्रव्य साचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्राय, लेश्या [illegible]॥

उनमे वर्ण का अस्तित्व कैसे है ? मानसिक विचारों मे किसी न किसी प्रकार के वर्ण की सत्ता निश्चित रूप मे विद्यमान रहती है । इसका कारण है कि मन की चचल तरगें पुद्गलो से मिश्रित होती है और पुद्गलो को मूर्त माना गया है । इस प्रकार, विचार का द्रव्यरूप पुद्गल-मय होना स्वाभाविक है । जैसा विचार होगा, वैसा वर्ण भी होगा और जैसा-जैसा विचार होगा वैसा वैसा पुद्गलो का आकर्षण भी रहेगा ।

मन की प्रकृति के अनुसार, प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले मन के अध्यवसाय असंख्य हैं । कभी वे सर्वथा शुभ्ररूप वाले होते है, कभी नितान्त कृष्ण-काले रूप मे व्यक्त होते है और कभी मिश्रित रूप मे । जैनागमो मे इस मानसिक, वाचिक और कायिक परिणमन को लेश्या के रूप से अभिहित किया गया है ।

स्फटिक अपने स्वरूप से अत्यन्त शुभ्र, निर्मल और उज्ज्वल होता है । उसके पास जिस वर्ण का भी कोई पुष्प या कोई अन्य वस्तु रखदी जाये तो वह स्फटिक वैसे ही रंग का प्रतिभासित होने लगता है । ठीक इसी प्रकार आत्मा भी स्फटिक के समान अत्यन्त शुभ्र और निर्मल है । आत्मा के पास भी जिस वर्ण के परिणाम होगे, वह उसी वर्ण वाला प्रतिभासित होने लगेगा । सामान्य रूप से लेश्या का अर्थ मानसिक वृत्ति या विचार-तरग माना जा सकता है किन्तु जैनाचार्यों ने कर्मश्लेष के कारणभूत शुभाशुभ परिणामो को ही लेश्या माना है । मानव मन में उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ परिणाम असख्य हैं । इस कारण लेश्याओ के भी असंख्य प्रकार हो सकते हैं किन्तु मुख्य रूप मे तारतम्य के आधार पर लेश्याओं को छह वर्गों मे विभक्त किया गया है । जैनागम का एक अति प्रसिद्ध उदाहरण इन छः वर्गों की तरतमता स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत किया जाता है ।

छै व्यक्ति मिलकर जामुन-फल खाने के लिये चल दिये । जगल में उन्होंने फलों से लदा हुआ एक जामुन का वृक्ष देखा । उनमे से एक ने कहा, "इस जामुन के वृक्ष को काट कर पृथ्वी पर गिरादो और फिर जितने चाहो फल खाओ" दूसरे ने कहा, "सारे वृक्ष को काटने की क्या आवश्यकता है । इसकी फलो वाली मोटी-मोटी शाखाओं के काटने से भी हमारा काम चल जायेगा ।"

नील लेश्या :

कृष्ण लेश्या वाले की अपेक्षा नीललेश्या वाले व्यक्ति की मनोवृत्ति तुलना में अच्छी होती है। परन्तु तब भी वह ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज, पापाचारी, लोलुप, केवल अपने सुख का इच्छुक, विषयी, हिंसाकर्मरत और क्षुद्र श्रेणी का जीव होता है[1]।

कापोत लेश्या :

इस लेश्या वाला प्राणी मन, वचन और काय से वक्र स्वभाव वाला होता है। मिथ्यादृष्टि होने के साथ-साथ वह अपने दोषों को छिपाया करता है और परुष भाषण करने वाला भी होता है। वह चौर्य निरत और ईर्ष्यालु भी होता है[2]।

तेजोलेश्या :

इस लेश्या से सम्पन्न पुरुष पवित्र, नम्र, अचपल, दयालु, विनीत, इन्द्रियजयी, पापभीरु और आत्मसाधना की आकांक्षा रखने वाला होता है। वह अपने सुख की चिन्ता न करता हुआ अन्य प्राणियों के प्रति उदारता की भावना रखता है[3]।

पद्म लेश्या :

पद्मलेश्या वाले की मनोवृत्ति धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में निरन्तर लगी रहती है। जैसे कमल अपनी सुगन्धि से दूसरों को प्रसन्न करता है उसी प्रकार पद्मलेश्या वाला व्यक्ति दूसरों को सदा आनन्दित करके सुख प्राप्त करता है। वह संयम का दृढ़ता से पालन करने वाला, कषायों को जीतने वाला, मितभाषी, जितेन्द्रिय और सौम्य स्वभाववाला होता है[1]।

शुक्ल लेश्या :

इस लेश्या वाले पुरुष की मनोवृत्ति अत्यन्त निर्मल होती है। शुक्ल लेश्या वाला मानव समदर्शी, निर्विकल्प ध्यान करने वाला, शान्त अन्तःकरण वाला; समिति गुप्ति से सम्पन्न होता है। वह जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में सावधान होकर चलता है और अशुभ प्रवृत्तियों से सदा दूर रहता है। वह सृष्टि के प्राणीमात्र पर प्रेमामृत की वर्षा करने वाला होता है[2]।

लेश्याओं द्वारा विचारों की शुभ और अशुभ परिणति पर प्रकाश डालकर और छह लेश्याओं के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करके और उनसे प्रभावित जीवों के स्वभाव का निर्देश करके शास्त्रकारों ने कहा है कि पूर्व की तीन लेश्याएँ अशुभ परिणाम वाली होने के कारण त्याज्य हैं, और अन्तिम तीन लेश्याएं उत्तरोत्तर शुभ परिणति की ओर प्रेरित करने के कारण उपादेय हैं। प्रथम तीन लेश्याएं जीव को दुर्गति में डालने वाली हैं और अन्तिम तीन जीव को सुगति की ओर प्रवृत्त कराने वाली कही हैं[१]। पूर्व की तीन लेश्याओं को अधर्म लेश्या के नाम से अभिहित किया गया है। शुक्ल लेश्या को तो आत्म विकास का अन्तिम चरण समझना चाहिये। यदि मानव अशुभ अवस्था से शुभतर और शुभतर से शुभतम अवस्था की ओर अग्रसर होता रहे तो उसका आत्मकल्याण रूपी लक्ष्य दूर नहीं रह जाता। वह शीघ्र ही अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त कर सकता है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जीव अपने निजी स्वरूप में शीघ्र ही स्थिर हो जाता है।

लेश्याओं के पुद्गलों का स्पर्श कर्कश बताया है और अन्तिम तीन के पुद्गलों का स्पर्श नवनीत जैसा कोमल होता है।

जैनागमों में प्रसंगानुकूल यत्रतत्र निर्दिष्ट लेश्या का स्वरूप मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वास्तव में उच्च धरातल का है।

उद्धरण :

१. कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्या शब्द. प्रयुज्यते॥
अज्ञाताचार्य, उद्धृतः अभयदेव सूरि।

२. किण्हा नीला य काऊय, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं॥
उत्तराध्ययन, अ० ३४, गा० ३, १

३. पंचासवप्पमत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारम्भ परिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो॥
निद्धन्धसपरिणामो, निस्संसो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे॥
वही, अ० ३४, गा० २१, २२

४. इस्सा अमरिस अतवो, अविज्जमाया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए॥
सायगवेसए य आरम्भाओ अविरओ, खुद्दो साहसिओनरो।
एय जोग समाउत्तो नीललेसं तु परिणमे॥
वही, गा० २३, २४

५. वंके वक समायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए॥
उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो काऊलेसं तु परिणमे॥
वही, गा, २५, २६,

ही संग्रह करो जितना व्यक्तिगत उपयोग के लिये अत्यावश्यक है" यह भी करें, तब भी दूसरे अर्थ का अधिगम—"शेष दूसरों में वितरित करने के लिए या देने के लिए छोड़ दो" स्पष्ट होता है। "जीवन का मूल केन्द्र धन नहीं किन्तु सर्वोदय है" यह उच्चादर्श भी "अपरिग्रह-पंचम महाव्रत में झलकता है।"

जब तक दान की परहितकारिणी भावना भारत के जनजीवन को अनुप्राणित करती रही, तब तक साम्यवाद और समाजवाद जैसे वादों का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं हो सका। हमारी धारणा है कि जब इस आर्य भूमि में अनादिकाल से अक्षुण्ण रूप में बहने वाली दान की निर्झरणी का प्रवाह मन्द पड़ने लगा और पूंजीवाद या संग्रहवाद की प्रवृत्ति बढ़ने लगी तभी उसकी प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद जैसे वाद अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुए। यद्यपि साम्यवाद और समाजवाद जैसी मान्यताओं के पीछे भी सर्वोदय की भावना अन्तर्निहित है किन्तु दान के द्वारा सर्वोदय में निःस्वार्थ, निष्काम और पुण्याधारित प्रवृत्ति की प्रधानता है। साम्यवाद या समाजवाद के सर्वोदय में राजनैतिक [illegible] की प्रधानता है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य गौण है और व्यक्ति की [illegible] है। [illegible] में [illegible] व्यक्तियों के द्वारा समाज या राष्ट्र का [illegible] यह मान्यता और है "समाज या राष्ट्र ही व्यक्ति [illegible] यह मान्यता प्रधान है। कुछ भी हो, दान की [illegible] और [illegible] के [illegible] की यदि वर्तमान [illegible]

दसविहेणाणे पण्णत्ते तं जहा—

अणुकम्पा संगहे चेव भए कालुणिएत्तिय।
लज्जाए गारवे णय अधम्मे पुण सत्तमे॥
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते काही तिय कयंति य।

ठाणांग, १०, ८१

अर्थात्—१ अनुकम्पादान २. संग्रहदान ३. भयदान ४. कारुणिक दान ५ लज्जादान ६. गारवदान ७. अधर्मदान ८. धर्मदान ९. करिष्यत्दान १०. कृतदान। ये दस प्रकार के दान कहे गये हैं।

अनुकम्पादान :

वाचक मुख्य श्री उमास्वाति ने "अनुकम्पादान" की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"कृपणेऽनाथ-दरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थात् अनुकम्पा तद्भवेद् दानम्॥"

श्री जै० सि० बोल संग्रह, भा० ३, पृ० ४५०

अर्थात्—दीन, अनाथ, अतिनिर्धन, दुखी, रोगी और धनाभाव के कारण शोकग्रस्त प्राणियों को जो दान दिया जाता है वह अनुकम्पादान कहलाता है।

अनुकम्पादान का जैनागमों में विशिष्ट स्थान है। किसी भी तीर्थंकर ने कहीं भी और कभी अनुकम्पादान का निषेध नहीं किया है। इसी बात की पुष्टि करते हुए किसी महान् जैनाचार्य ने कहा है—

"सव्वेहिं वि जिणेहिं, दुज्जयतियरागदोसमोहेहिं।
अणुकम्पा दाणं सड्ढयाण न कहिं वि पडिसिद्धं॥

अ० रा० को० भाग। पृ० ३६१

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अनुकम्पा, अनुकम्पनीय व्यक्ति पर ही की जाती है। यदि दान ग्रहण करने वाला स्व साधु है तो वह अनुकम्पा का पात्र नहीं हो सकता। साधु को या पात्र बनाया गः

"अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्याद्, भक्तिः पात्रे तु संगता ।"

वही, १, पृ० ३६०

संग्रहदान :

संग्रहदान की व्याख्या करते हुए लिखा है :

"अभ्युदये व्यसने वा यत्किञ्चिद्दीयते सहायतार्थम् ।
तत्संग्रहोऽभिमतं, मुनिभिर्दानं न मोक्षाय ॥

जै० सि० बोल संग्रह, भा० ३, पृ० ४५१

की पारलौकिक कुशल कामना के लिए जो दान दिया जाता है, वह कारुण्यदान कहलाता है।

कारुण्यदान की इस भावना में भी कुछ-कुछ परकल्याण निहित है, इस कारण इसे भी मध्यम कोटि का दान कहा जा सकता है।

लज्जा दान :

"अभ्यर्थितः परेण तु यद्दानं जनसमूहगतः ।
परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद् भवेद्दानम् ॥"

अर्थात्—जब व्यक्ति जनसमूह के मध्य बैठा हो और उस समय कोई कारणवश दान मांगने वाला आ जाये, तब जनसमूह की लज्जा के कारण या उनकी दृष्टि में अपनी लाज रखने के लिए जो दान दिया जाता है, वह लज्जादान कहलाता है। लज्जादान में दानपात्र के प्रति लगाव का अभाव है, देने का कारण लज्जा है, जिसका आधार स्वार्थ है। इसलिए लज्जादान भी भयदान के समान ही मध्यम कोटि में ही आयेगा।

गारव दान :

"नटनर्तमुष्टिकेभ्यो दानं सम्बन्धिबन्धुमित्रेभ्यः ।
यद्दीयते यशोर्थं गर्वेण तु तद् भवेद्दानम् ॥"

वही, पृ० ४५२

अर्थात्—नट बाजीगर, नृत्य करने वाले, पहलवान अपने सगे-सम्बन्धी या मित्रों को स्वयं के लिए यश की उपलब्धि के निमित्त अहंकारपूर्वक जो दान दिया जाता है, उसे गारवदान कहते हैं।

गारवदान का आधार यशोलिप्सा और अहंकार दोनों हैं। इसे भी निम्नकोटि के मध्यम दानों में ही रखना उचित होगा।

अधर्मदान :

जो दान अधर्म का कारण बनता हो वह अधर्मदान है। अधर्मदान

संक्षेप में पांच महापापों में प्रवृत्त कराने वाला दान अधर्मदान है। ऐसा दान जिसके देने से कोई प्राणी हिंसा में, असत्य भाषण में, चौर्यकर्म में, परदारगमन में और परिग्रह में प्रवृत्त होता हो, अधर्मदान के नाम से अभिहित किया जाता है।

पांच महापापों के सम्मुख करने वाले इस दान की गणना अधर्म-कोटि के दानों में ही करना संगत होगा।

धर्मदान :

जो दान धर्म का कारणभूत हो, वह धर्मदान कहलाता है। जैसे—

"समतृणमणिमुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः ।
अक्षयमतुलमनन्तं तद्दानं भवति धर्माय ॥"

वही, पृ० ४५२

"काले देशे सत्पात्रं श्रद्धायुक्तेन शुद्धमनसा च।
सत्कृत्य च दातव्यं, दानं प्रयतात्मना सद्भ्यः ॥

अर्थात्—सत्पात्र मे दान देश काल को ध्यान में रखते हुए सुपात्र का भली भाँति सत्कार करके महती श्रद्धा, पवित्र मन और सयत आत्मा से दिया जाता है।

इस प्रकार उत्तम, निर्मल हृदय, संयत आत्मा और विनम्र आदि अनेक गुणो से युक्त सत्पात्र में दिया गया स्वल्प दान भी उसी प्रकार फलीभूत होता है जिस प्रकार वट वृक्ष का अत्यन्त छोटा सा बीज एक विशाल वट को जन्म देता है। इस भाव को कितने सुन्दर शब्दो मे किसी जैनाचार्य ने कहा है—

"दानं सत्पुरुषेषु स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन।
वटकणिकेव महन्तं न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥
वही, पृ० २४६

टीका ग्रन्थों में सत्पात्र-दान की महिमा को और भी चार चाँद लगाते हुए वर्णित किया है।

"दुःखसमुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन।
लघुनेव मकरनिलयं, वणिजः सद्यानपात्रेण ॥"
आचारांगटीका

अर्थात्—बुद्धिमान लोग सत्पात्र में दान देकर संसार के दुःख रूपी समुद्र को ठीक वैसे ही पार कर जाते हैं जैसे सुदृढ और सुनिर्मित जलयान के द्वारा व्यापारी लोग बड़ी ही सरलता से समुद्रको पार कर जाते हैं।

कारिष्यत् दान :

जिसको मैं आज दान कर रहा हूँ वह इसके बदले में भविष्य में मेरा प्रत्युपकार करेगा। इस भावना से दिया गया दान करिष्यत् दान कहलाता है।

इस दान के पीछे भी स्वार्थ की भावना निहित है इस कारण यह दान भी उच्च कोटि का नहीं है

कृतदान :

कृतदान की व्याख्या करते हुए कहा गया है :

"शतशः कृतोपकारो दत्तं च सहस्रशो ममानेन ।
अहमपि ददामि किञ्चित् प्रत्युपकाराय तद्दानम् ॥"

अर्थात्—इस व्यक्ति ने मेरा सैकड़ों बार उपकार किया है और हजारों की राशि यह भूतकाल में मुझे दे चुका है, इसके उपकार के कर्ज को चुकाने के लिए मैं भी इसे दान के रूप में कुछ देता हूँ। इस भावना से जो दान दिया जाता है उसे कृतदान कहते हैं।

कृतदान में कृतज्ञता एवं सद्भावना की प्रवृत्ति होने के कारण इसे उत्तम कोटि का तो नहीं किन्तु मध्यम कोटि का दान कहा जा सकता है।

अर्थात्—"दान तो देना चाहिए" इस भावना से देश काल के अनुसार जिस देश काल में जिस वस्तु का अभाव हो, वहाँ प्राणियों की रक्षा के लिए किसी वस्तु को पहुँचाना अपने प्रति किसी भी प्रकार का उपकार न करने वाले सत्पात्र को भी दान देना सात्विक दान कहलाता है।

इस सात्विक दान पर ठाणाग सूत्र के धर्म दान और अनुकम्पा दान का प्रभाव परिलक्षित होता है।

राजस दान का लक्षण करते हुए गीता में लिखा है :

> "यत्तुप्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
> दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥"
>
> वही, श्लोक, २१

अर्थात्—जो दान क्लेश पूर्वक वर्तमान युग में चन्दा चिट्ठा आदि में दिया जाने वाला दान क्लेशपूर्वक दान ही होता है दिया जाये अथवा प्रत्युपकार के प्रयोजन से जो दान दिया जाय अर्थात् सांसारिक कार्य की सिद्धि के लिए फल, मान बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्वर्ग प्राप्ति एवं रोगनिवृत्ति के उद्देश्य से दिया जाय वह दान राजस दान कहा जाता है।

गीता के राजस दान पर ठाणांग की छाप :

गीता के राजस दान पर ठाणाग के लज्जादान, गारव दान और करिष्यति दान की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

तामस दान का स्वरूप गीता में निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया गया है।

> "अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
> असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥"
>
> वही, श्लोक, २२

अर्थात्—जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कार पूर्वक देश काल का विचार किये बिना कुपात्रों-हिंसक, असत्यवादी, चोर, व्यभिचारी, मद्यमांसादिसेवियों को दिया जाता है, वह तामस दान

गीता के उक्त तामस दान पर ठाणांग के अधर्मदान का प्रभाव स्पष्ट व्यञ्जित होता है।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति की दान भावना ने वैदिक संस्कृति की दान भावना को किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित किया है। इस तथ्य की कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती।

प्रभावित करने के अतिरिक्त श्रमण संस्कृति के दान का अपना पृथक वैशिष्ट्य भी है। वैदिक संस्कृति में दान देने का अधिकार तो क्षत्रिय और वैश्य वर्गों को है किन्तु दान लेने का अधिकार प्रायः ब्राह्मण जाति को ही है। शूद्र की तो द्विजातियों में गणना ही नहीं की जाती थी। मनुमहाराज ने जहाँ चार वर्णों के भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों का मनुस्मृति में उल्लेख किया है वहाँ दान लेने का विधान ब्राह्मण के लिये ही आया है :

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः॥"

दुल्लहा हु मुहादायी मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादायी मुहाजीवी दो वि गच्छंति सोग्गई॥

इस प्रकार जैनागमों में वर्णित दान के प्रकार, दान का माहात्म्य और दान की उपादेयता अत्यन्त सारगर्भित और प्रशस्त है। युग युगान्तर के जैनाचार्यों ने निःस्वार्थ एव निष्काम दान की भावना का प्रसार एवं प्रचार करके न केवल जैनेतर सस्कृतियों को सामान्य रूप से ही प्रभावित किया है अपितु उन पर अपनी अमिट छाप भी रख छोड़ी है। जैनाचार्यों ने दान की भावना पर इतना लिखा है कि एक विशाल ग्रन्थ का निर्माण हो सकता है। उपर्युक्त दान का विश्लेषण तो मात्र दान पर सिंहावलोकन है।

वास्तव में आश्चर्य चकित करने वाला है। उदाहरण के लिये सृष्टि के मौलिक सर्जन पर की गई चिन्तनधारा को ही हम लेते हैं। सृष्टि का निर्माण कब हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ, किसने किया, किसलिये किया, या किसी ने नहीं किया, अपने आप हो गया, अपने आप हुआ तो कैसे हुआ किस प्रयोजन से हुआ इत्यादि-इत्यादि। ऐसे अनेक प्रश्न चिन्तकों के सामने आये। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" जैसा जिसकी समझ में आया व्यक्त कर दिया। व्यक्त करने वालों को क्या पता था कि भविष्य में तर्क का, समीक्षा का और विज्ञान का ऐसा युग भी आयेगा जब प्रत्येक समाधान को तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसे बिना प्रामाणिक नहीं समझा जायेगा। सृष्टि-उत्पत्ति का सिद्धान्त दर्शन शास्त्र का बड़ा जटिल प्रश्न रहा है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी अपनी प्रतिभा के बल पर इसका समाधान खोजने का भरसक प्रयत्न किया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार, जगत तो है ही नहीं। जगत के होने का ज्ञान तो मिथ्या है, माया है, भ्रान्ति है। वास्तव में तो सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। वही ऊपर है, वही नीचे है वही पीछे है, वही सामने है, वही दक्षिण की ओर है वही उत्तर की ओर है। यही नहीं बल्कि वही सब कुछ है :—

"स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स।
पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति।"

छान्दोग्य उपनिषद्, ७, २५

गीता में भी इसी सत्य की पुष्टि करते हुए लिखा है :

"मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय"

गीता, ७, ७

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सब संसार ब्रह्म है, नेह नानास्ति किंचन", उसके अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है। जो कुछ दृश्यमान है, वह सब मायामात्र है :

"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येन"

ब्रह्मसूत्रम्, ३, २, ३

आज के विज्ञानिक युग में इस मस्तिष्क के व्यायाम के समाधान को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। नाना नामरूपात्मक विश्व को

हम प्रतिक्षण इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर रहे हैं, देख रहे हैं, प्रत्यक्षरूप में उसकी विविधताएँ विशेषताएँ और समताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, फिर भी हम यह कह दें कि यहां तो कुछ भी नहीं है, सब माया है, यह अपने आपको धोखे में रखने वाली बात नहीं तो और क्या है ?

विवादास्पद प्रश्न :

वास्तव में सृष्टि के पूर्व क्या था, यह विद्वानों के लिये बड़े ही सिरदर्द का विषय रहा है तभी तो महात्मा बुद्ध से जब यह प्रश्न पूछा गया कि सृष्टि के पूर्व क्या था तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह प्रश्न "अव्याकृत" है—अर्थात्— इसका कुछ निर्णय करना संभव नहीं है। बुद्ध की स्पष्टवादिता वास्तव में प्रशंसनीय है। जो बात उनकी समझ में नहीं आई उस पर उन्होंने अपना मत स्पष्ट प्रकट कर दिया।

अर्थात् सृष्टि के पूर्व एक सत् था, उसी को विद्वानों ने अनेक रूपों में वर्णन किया है।

दीर्घतमा ऋषि अपनी चिन्तनधारा में और आगे बढ़े और इस निर्णय पर पहुँचे कि उनकी पूर्व धारणा ठीक नहीं थी। वास्तव में :

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्।

ऋग्वेद, १०, १२९, १

सृष्टि के पूर्व न तो सत् ही था और असत् ही।

एक दूसरे ऋषि ने अपनी बुद्धि के अनुसार कहा

असद् वा इदमग्र आसीत् ततो सदजायत।

तैत्तिरीय उप० २, ७

पहले असत् था, उससे सत् की उत्पत्ति हुई। तीसरे ने कहा "मृत्युनेवेदमावृतमासीत्" अर्थात्—सृष्टि के पूर्व सत् और असत् दोनों नहीं थे यहां तो केवल मात्र मृत्यु का ही साम्राज्य था। चौथे ने कहा कि—

असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्।
तत् समभवत तदाण्डं निरवर्तत॥

छान्दोग्य उप० ३, १९, १

अर्थात्—असत् से तो सत् पैदा हुआ और वह अण्डा बन गया उस अण्डे से सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

छान्दोग्य उपनिषद् के एक और ऋषि और भी अधिक तर्क बुद्धि वाले थे। उन्होंने दृढ़ता से कहा "असत्—अर्थात् किसी भी तत्त्व का अभाव—उससे सत्—अर्थात् अस्तित्व धर्म वाले पदार्थ की उत्पत्ति कैसे संभव हो सकती है?

सृष्टि—सर्जन सम्बन्धी उपर्युक्त मन्तव्यों की जैनदर्शन में बड़े विस्तार से चर्चा की गई है जिसका उल्लेख लेख विस्तारभय से यहाँ सम्भव नहीं है। तो भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि उपर्युक्त कल्पनाओं के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। जैनाचार्य सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ और तत्त्वार्थ शब्दों का एक ही अर्थ मानते है। जैन दर्शन

प्रतिपादित पदार्थ की उत्पाद और व्यय की प्रक्रिया के पीछे कोई दैवी शक्ति काम नहीं करती, यह सारी प्रक्रिया नैसर्गिक है। इस प्रकार सृष्टि का न कभी किसी ईश्वरीय शक्ति के द्वारा सर्जन ही होता है और न ही महाप्रलय। जैन दर्शन की इस सृष्टि-सर्जन-विषयक मान्यता में वैज्ञानिकता है। इसकी तुलना में यह कहना कि सृष्टि के पूर्व सत् था, तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता क्योंकि यदि सत् था तो सृष्टि के नये सिरे की कल्पना सारहीन प्रतीत होती है। असत् से सत् की उत्पत्ति होना तो सर्वथा असंभव बात है।

इतर भारतीय धर्म और सृष्टि सर्जन :

अधिकतर भारतीय धर्म-ग्रन्थकारों ने ईश्वर को सृष्टि का उत्पादक, पालक और संहारकारी बताया है।

[illegible] का कथन है।

समस्त प्रकृतियां यह सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत, नारायण से ही उत्पन्न हुआ है।" गीता में भी इसी मान्यता का समर्थन करते हुए लिखा है :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

गीता, १८, ६१

अर्थात्—हे अर्जुन ! शरीर रूपी यन्त्र में आरूढ़ हुए, सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से भ्रमण कराता हुआ, सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।

ईश्वर नाम की महान् शक्ति ही सृष्टि को उत्पन्न करती है और अन्त में अपने में ही समेट लेती है। उदाहरण द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए भागवत पुराण में लिखा है—

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥

—भागवत पु० ११, ९, २१

अर्थात्—जिस प्रकार मकड़ी अपने पेट में से मुख द्वारा तन्तुओं को निकाल कर उनको फैलाती है और उनके साथ विहार करके उसे पुनः निगल जाती है, उसी प्रकार सर्वेश्वर परमात्मा जगत की रचना करके तथा उसमें विहार करके पुनः अपने में उसे लीन कर लेता है।

वैष्णव धर्म ग्रन्थों के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर नाम की ही एक अद्वितीय शक्ति सृष्टि की उत्पत्ति, नियन्त्रण एवं संहार की मूल कारण है। सृष्टि के मूल कारण के अतिरिक्त, यह ईश्वरीय शक्ति, जब सृष्टि में पाप की वृद्धि होने लगती है तब पापियों के संहार के लिये अवतार के रूप में सृष्टि पर अवतरित होती है। वाल्मीकीय रामायण में उल्लेख है कि जब महर्षि और देवता रावण के उपद्रवों से दुखी हो गये तो वे मिलकर ब्रह्माजी के पास गये और दुःख निवारण की प्रार्थना की। भगवान् विष्णु तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये और उनके संकट को हरने के लिये, दशरथ जी के घर में मनुष्य रूप में अवतार लेने का उनको वचन देते हुए कहा :—

हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम् ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम् ।

अर्थात्—देवताओं और ऋषियों को भय देने वाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षस का नाश करके, मैं ग्यारह हजार वर्षों तक, पृथ्वी का पालन करता हुआ मनुष्य लोक में निवास करूंगा।

वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड १५, २९, ३०

मैं कौन हूँ, ब्रह्मा ने कहा—

सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णःप्रजापतिः ।
—वही, युद्धकाण्ड, ११९, १३, २७-२८

ही नये सिरे से सृष्टि के निर्माण की कल्पना करनी पड़े। सृष्टि का पूर्ण रूपेण बीज नाश हो जाता है और फिर नये सिरे से, ईश्वर इसकी रचना करता है, यह बात मस्तिष्क में बैठती नहीं। योग-दर्शन के अनुसार ईश्वर :—

"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष ईश्वर.।"
—योग०, १, २४

अर्थात्—क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, कर्म, पाप-पुण्य, कर्मफल, जाति, आयु, भोग तथा वासनाओं से रहित होता है ईश्वर। इसके अतिरिक्त।

"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।"
—वही, १, २५

अर्थात्—ईश्वर सर्वज्ञ है।

जिस ईश्वर में राग और कर्म का अभाव है, वह अपनी माया द्वारा संसार के जीवों को यन्त्र के समान संसार में वृथा घुमा रहा है, यह बात बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। फिर वह तो सर्वज्ञ भी है, जो सर्वज्ञ होता है, वह पूर्ण होता है, पूर्ण वही होता है, जिसमें किसी भी प्रकार की इच्छा की सत्ता नहीं होती, इच्छा के बिना ईश्वर नाम की शक्ति ने सृष्टि को कैसे उत्पन्न किया, यह बात भी ठीक नहीं जंचती। दुष्टों के संहार के लिये और सज्जनात्माओं के कल्याण के लिये भगवान् को सृष्टि में अवतार के रूप में आना पड़ता है, यह कल्पना भी कल्पना ही प्रतीत होती है। विष्णु पुराण में ईश्वर को :

सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च,
समस्तशक्ति परमेश्वराख्यः।
—विष्णु पुराण, ६, ५, ८६

अर्थात्—ईश्वर सर्वद्रष्टा, सब कुछ जानने वाला, सब प्रकार की महान् शक्ति से सम्पन्न बताया गया है।

जो ईश्वर सर्वज्ञ—या सब कुछ जानने वाला है, उसको निमन्त्रण देने के लिये ऋषियों और देवताओं को ब्रह्मा के पास जाने की क्या आवश्यकता थी? उसको तो स्वयं ज्ञान होना चाहिये कि मधुकैटभ

साम्ययोग

धर्म की अभिन्नता :

न अनेक धर्म हैं। सबकी मान्यताएँ विधि विधान,
एव सिद्धान्त पृथक्-पृथक् हैं। भगवान् महावीर द्वारा
धर्म अपनी ऐसी विलक्षण मान्यता लिये हुए है जिसमे
भी धर्मों की मान्यताओं का अन्तर्भाव हो सकता है। यह
धर्म की अस्थायी दैहिक सुखों के निमित्त ऐहिक एषणाओं
के लिये साधना नही है परन्तु यह वह आत्मधर्म है जिसकी
ला आत्मविकास या परमपद की उपलब्धि है। धर्म का
मा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। न तो धर्म ही आत्मा से
भिन्न है और न ही आत्मा धर्म से भिन्न है। धर्म का अस्तित्व
से कही बाहर नही है। आत्मा अनन्तगुणो का भण्डार है
धर्म उन गुणो में से एक है। दूसरे शब्दों मे आत्मा गुणी है
धर्म गुण है। परन्तु इस बात का यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि
गुणी और गुण के ... एक सीमा है। धर्म आत्मा का
. है जब त... , वाणी और मन से जुडा हुआ
दि तत्वों ... विजातीय तत्व या पुद्गल द्रव्य
अभिहित ... जब आत्मा इन विजातीय तत्वों
प्राप्त ... लिये न कोई धर्म रह जाता है
ही ... मे आबद्ध आत्मदशा मे
... -जित हेतुओं से आत्मा
... ते है और जिन हेतुओं से
... है वे धर्म के नाम से जाने

साम्ययोग

आत्मा और धर्म की अभिन्नता :

संसार में अनेक धर्म हैं। सबकी मान्यताएँ विधि विधान, विशेषताएँ एवं सिद्धान्त पृथक्-पृथक् हैं। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म अपनी ऐसी विलक्षण मान्यता लिये हुए है जिसमें विश्व के सभी धर्मों की मान्यताओं का अन्तर्भाव हो सकता है। यह धर्म चार्वाक धर्म की अस्थायी दैहिक सुखों के निमित्त ऐहिक एषणाओं की पूर्ति के लिये साधना नहीं है परन्तु यह वह आत्मधर्म है जिसकी आधारशिला आत्मविकास या परमपद की उपलब्धि है। धर्म का और आत्मा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। न तो धर्म ही आत्मा से सर्वथा भिन्न है और न ही आत्मा धर्म से भिन्न है। धर्म का अस्तित्व आत्मा से कहीं बाहर नहीं है। आत्मा अनन्तगुणों का भण्डार है और धर्म उन गुणों में से एक है। दूसरे शब्दों में आत्मा गुणी है और धर्म गुण है। परन्तु इस बात का यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि इस गुणी और गुण के सम्बन्ध की भी एक सीमा है। धर्म आत्मा का गुण तभी तक है जब तक आत्मा शरीर, वाणी और मन से जुड़ा हुआ है। शरीरादि तत्वों को जैन दर्शन में विजातीय तत्व या पुद्गल द्रव्य के नाम से अभिहित किया गया है। जब आत्मा इन विजातीय तत्वों से मुक्ति प्राप्त कर लेती है, तब उसके लिये न कोई धर्म रह जाता है और न ही अधर्म। इस प्रकार विजातीय तत्वों से आबद्ध आत्मदशा में ही धर्म या अधर्म की व्यवस्था होती है। जिन-जिन हेतुओं से आत्मा विजातीय तत्वों से बन्धती है, वे अधर्म कहे जाते हैं और जिन हेतुओं से विजातीय तत्वों का आकर्षण रुक जाता है वे धर्म के नाम से जाने

है उस पर लाभ और हानि, सुख और दुख, प्रशंसा और निन्दा, जीवन और मृत्यु, मान और अपमान का कोई असर नहीं होता। भगवान् महावीर का उद्देश्य ऐसे ही साम्ययोग का प्रसार करना था जो अनादिकाल से श्रमण परम्परा में चला आ रहा था।

समता महाव्रतों की जननी :

जिस धर्म का आधार "समता" है, उसमें जातिवाद के लिये स्थान कैसे हो सकता है? यज्ञो में होने वाली हिंसा और दासप्रथा जैसी अमानवीय कुप्रथाओं का स्वत निराकरण हो जाता है। हमारे विचार में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नाम के पाँच महाव्रतो का जन्म समता की भावना से ही हुआ है। दूसरे शब्दों में समता पाँच महाव्रतो की जननी है।

अपनी ही आत्मा के समान सबकी आत्मा को समझने वाला व्यक्ति हिंसा भला कैसे करेगा? वह जानता है कि सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु वैसे ही प्रिय है जैसे उसे अपनी। सब सुख को अपने अनुकूल मानते हैं और दुख को प्रतिकूल। मृत्यु किसी को भी अच्छी नहीं लगती। सबको जीवित रहना प्यारा लगता है। जीवमात्र जीवित रहने की कामना करने वाले हैं क्योंकि सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है[1]। इसी भाव को और स्पष्ट करते हुए आगम में लिखा है कि शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव रखना ही अहिंसा की परिभाषा है। आजीवन किसी भी प्राणी की मन, वचन, काया से हिंसा न करना एक बड़ा दुष्कर व्रत है[2]।

इसी प्रकार सत्य की सार्थकता भी समता की भावना पर निर्भर है। प्राणिमात्र के प्रति सम भावना रखने वाला व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिये या दूसरे के लिये, क्रोध से या भय से कभी भी न तो स्वयं असत्य वाणी बोलेगा और न ही किसी दूसरे से बुलवाने का प्रयत्न करेगा। ऐसा करने से दूसरे के मन में दुख होगा जो हिंसा है[3]। साम्ययोग को मानने वाला मानव, काणे को काणा, नपुसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कभी नहीं कहेगा क्योंकि ऐसा करने से सम्बोधित पुरुष का मन दुख पायेगा। सत्य भी यदि कटु सत्य है तो वह समता का विरोधी है। कटुवचन की तुलना शास्त्र में लोहे के

का संग्रह और उनके प्रति ममत्व। सामान्य जीवन निर्वाह के लिये कतिपय आवश्यक उपकरणों को पास रखना परिग्रह नहीं है[10]। किन्तु आवश्यकता से अधिक भोग विलास के निमित्त सामग्री एकत्रित करना परिग्रह है। परिग्रह पाप है। परिग्रह में कार्मण-वर्गणा का आकर्षण निहित है अतः यह आस्रव है। अपने लिये अधिकाधिक वस्तुओं के संग्रह का अर्थ है दूसरों को उनके उपयोग से वंचित करना। इस रूप में परिग्रह चौर्य में भी परिवर्तित हो जाता है। पूंजीवाद का जन्म परिग्रह की भावना से ही होता है। दूसरे शब्दों में पूंजीवाद की आधारशिला ही परिग्रह है। परिग्रह में शोषण का होना स्वाभाविक है। जिस समाज में शोषण होगा, वहां अशान्ति होगी, विषमता का विष फैलेगा, उसकी प्रतिक्रिया होगी और विद्रोह होगा। इस शोषण के कारण ही फ्रान्स, रूस और चीन की अत्यन्त रोम हर्षक क्रान्तियां हुईं जिनमें असंख्य प्राणी अकालमृत्यु के ग्रास बने। मानव ने मानव पर ऐसे बर्बरतापूर्ण अत्याचार किये जिनके सामने दानव की दानवता भी लज्जित हो जाये। सम्भवतः शोषण के विरुद्ध होने वाली इसी प्रतिक्रिया को ध्यान में रखकर भगवान् महावीर ने कहा था कि परिग्रह से विद्वेष की वृद्धि होती है[11]। और यह भी कहा था कि परिग्रह से महान् भय की उत्पत्ति होती है[12]।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने साम्ययोग को धर्म का सार बताया है और कहा है कि यही एक मात्र परमपद प्राप्ति का सोपान है।

अनेकान्त दर्शन में साम्ययोग :

महावीर द्वारा समर्थित एवं प्रचारित अनेकान्त दर्शन में भी साम्ययोग की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। जो व्यक्ति इस सत्य को भलीभांति जानता है कि पदार्थ नित्य भी है वह जीवन और मृत्यु में सम रहता है। जो यह भी जानता है कि पदार्थ अनित्य भी है, वह संयोग वियोग में सम रहता है। जो यह जानता है कि पदार्थ सदृश भी है वह किसी के प्रति घृणा नहीं कर सकता। जो यह जानता है कि पदार्थ विसदृश भी है उसके मन में किसी के प्रति आसक्ति नहीं हो सकती। जिसको यह ज्ञान है कि पदार्थ स्व है वह दूसरे की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार कैसे करेगा? जो यह जानता है कि [illegible]

६. प्रश्न द्वार ३, सूत्र ६

तइयं च अदत्तादाणं हरदहमरणभयकलुसतासणपरसंतिमऽ-भेज्जलोभमूलं.........अकित्तिकरणं अणज्जं·· .... साहुगरहणिज्जं पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं रागदोस बहुलं।

७. वही, सवरद्वार, ४, सू० १

लोगुत्तमं च वयमिण

८. वही,

बंभचेर उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित-सम्मतविणयमूल।

६. वही,

एकंपि बंभचेरे जंमिय आराहिय पि, आराहियं वयमिण सव्वं तम्हा निउएण बंभचेरं चरियव्वं।

१०. दशवै० अ०, ६ गा० १६

तंपि संजमलज्जट्ठा, धारेंति,

११. उत्तरा०, अ०, ४, गा० २

वेराणुबद्धा नरय उवेन्ति।

१२. वही, अ०, १६, गा० ६८

ममत्तयन्धं च महब्भयावहं।

अवगम्य हैं। इसी ज्ञान के द्वारा प्राणियों के कर्मबन्ध का समय तथा उनके शुभाशुभ फल का पता चलता है।

ज्ञान प्रकार :

ज्ञान पांच प्रकार का माना है। (१) आभिनिबोधक, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मन पर्यव और (५) केवल[13] पांच इन्द्रियां और छठा मन, इनके द्वारा जो अर्थाभिमुख निश्चयात्मक बोध होता है, उसे आभिनिबोधक ज्ञान कहा जाता है। मतिज्ञान इसी का दूसरा नाम है। स्पर्श करने, चखने, सूंघने, देखने और सुनने के द्वारा हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह मतिज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति चार भूमिकाओं द्वारा होती है जिनमें से प्रथम का नाम "अवग्रह", दूसरी का "ईहा", तीसरी का "अपाय" और चौथी का "धारणा" है। स्पर्श के द्वारा "कुछ है" ऐसा अव्यक्त रूपज्ञान "अवग्रह" कहा जाता है। यह क्या होगा इस ज्ञान का नाम "ईहा" है। "यह वस्तु वही है"। ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान "अपाय" कहलाता है। "मुझे इस वस्तु का स्पर्श हुआ" इसकी स्मृति को धारणा कहा गया है।

श्रुतज्ञान का सामान्य अर्थ है, सुनकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान, हम ग्रन्थों को पढ़कर और भाषणों को सुनकर जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है। संसार के प्रत्येक प्राणी में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान व्यक्त या अव्यक्त रूप में अवश्य रहते हैं।

"रूपी द्रव्य अमुक काल तक और अमुक क्षेत्र तक मर्यादित रहेंगे, इस प्रकार का ज्ञान "अवधिज्ञान" है। दूसरे प्राणियों के मन के भावों को जान लेना "मन पर्यव" ज्ञान कहलाता है। प्रत्येक वस्तु के सभी पर्यायों का सर्वकालीन जो ज्ञान होता है उसको "केवल ज्ञान" कहते हैं।

अवधिज्ञान नारकीय और देव के जीवों को जन्म से ही होता है, जबकि तिर्यंच और मनुष्य-योनि के जीवों को यह ज्ञान विशिष्टलब्धि से ही संभव होता है। मन पर्यव और केवल ज्ञान केवल मनुष्य जाति को ही होता है किन्तु उसके लिये भी विशिष्टावस्था की अपेक्षा रहती है।

इस प्रकार सर्व द्रव्य, सर्वगुण और सर्व पर्यायों का स्वरूप जानने के लिये ज्ञानियों ने उक्त पाँच प्रकार के ज्ञान कथन किये हैं"। संसार का कोई भी पदार्थ ज्ञान की इन पांच प्रकार की मर्यादाओं से बाहर नहीं है।

४. मिथ्या दृष्टियों की प्रशसा करना।

५. मिथ्या दृष्टियो से घनिष्टता रखना।

जीव के आध्यात्मिक विकास का आरभ सम्यग् दर्शन से ही होता है। जब तक जीव की दृष्टि निर्विकार एव निर्दोष नही बन जायेगी, तब तक उसका कोई भी प्रयत्न किसी भी क्षेत्र मे सफल नही हो सकता। आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो सम्यग्दर्शन को मुक्ति का प्रथम सोपान माना गया है। सम्यग्दर्शन के आठ अग माने गये हैं जिनके द्वारा सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप समझ मे आता है। वे अग है नि शकित, नि काक्षित निर्विचिकित्सा, अमूढ दृष्टित्व, उपब हण, वात्सल्य और प्रभावना[15]। लेख विस्तारमय से यहाँ सबका विवेचन देना सभव नही। जो व्यक्ति पूर्ण रूप से सम्यक्त्व के इन आठ अगों का पालन करता है, वही सम्यग्दृष्टि पुरुष माना जाता है।

सम्यक् चारित्र :

उत्तराध्ययन सूत्र के[16] वें अध्याय मे भगवान् महावीर ने चरित्र प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मिथ्यात्व, अव्रत कषाय, प्रमाद और मन, वचन, काया के अपवित्र विचारो से जिन पाप कर्मों का बन्धन हो गया है और जिनके शुभाशुभ फल को परिवर्तित करना अत्यन्त कठिन है, उन कर्मों का जिस पुरुषार्थ बल से नाश करके आत्मा को कषायादि से रिक्त कर दिया जाता है वही चरित्र कहलाता है। चरित्र के भी पाँच भेद किये है जो इस प्रकार है

१. सामायिक।
२. छेदोपस्थापनीय।
३. परिहार विशुद्धि।
४. सूक्ष्मसंपराय और
५. यथाख्यात।

मन, वचन, काया से न तो स्वयं पाप करना, न दूसरे से करवाना और न ही किसी करते हुए का अनुमोदन करना, सामायिक चारित्र कहलाता है। इस प्रकार का चारित्र, साधुओं में मिलता है। नवागत-शिष्य को "दशवैकालिकसूत्र" का 'षड्जीवनिका' नामक चौथा अध्याय पढ़ाने के पश्चात् जो बड़ी दीक्षा दी जाती है, उसे "छेदो-

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

५. धीरस्तुति, पृ० ३४
ज्ञानं हिताहित प्राप्तिपरिहार समर्थहि प्रमाण,
ततो ज्ञानमेव तत् ।

६. वही,
तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वात् ।

७. वही, पृ० ३४
त्रिकालगोचरानन्त-गुणपर्यायसंयुताः ।
यत्र भावा स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञान ज्ञानिनां मतम् ॥

८. वही,
ध्रौव्यादि कलितैर्भावैर्निर्भर कलितं जगत् ।
चिन्तितं युगपद्यत्र, तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥

९. वही,
अनेकपर्यायगुणैरुपेतं, विलोक्यते येन समस्त तत्वम् ।
तदिन्द्रियानिन्द्रियभेदभिन्न, ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदितं हिताय ॥

१०. वही,
रत्नत्रयीं रक्षति यो न जीवो, विरज्यतेऽत्यन्त शरीरसौख्यात् ।
रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धि, ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः ॥

११. वही पृ० ३५
क्रोध पुनीते विदधाति शान्तिं, तनोति मैत्रीं विहिनस्तिमोहम् ।
पुनाति चित्तं, मदनं लुनीते, येनेह बोधं तमुशन्ति सन्त ॥

१२. वही,
आत्मानमात्मसंभूतं, रागादिमलवर्जितम् ।
यो जानाति भवेत्तस्य, ज्ञान निश्चयहेतुजम् ॥

१३. उत्तराध्ययन, अ०, २८, गा० ४
तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहि नाणं तु तइयं, मण नाण च केवलम् ॥

१४. वही, गा० ५
एय पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य ।

आठ दर्शनों में मोक्ष का स्वरूप, ये आठ दर्शन हैं :

१. न्याय,
२. वैशेषिक,
३. योग,
४. सांख्य,
५. मीमांसा,
६. वेदान्त,
७. बौद्ध, और
८. जैन

न्याय दर्शन :

प्रधान रूप से यह प्रमाण शास्त्र है। प्रमाण यथार्थ ज्ञान को कहते हैं, उसका निर्णय ही इसका प्रधान विषय है। इसके अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर ये तीन सत्य और सनातन सत्ताएँ हैं। यह दृश्यमान् जगत् ईश्वर की सृष्टि है। यह वेदान्त के विश्व के समान कोरी माया नहीं है किन्तु उसकी वास्तविक सत्ता है। न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान द्वारा निःश्रेयस-मोक्ष का अधिगम होता है जो जीवन का वास्तविक लक्ष्य माना जाता है।

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"

अर्थात्—यथार्थ ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। यह उनका सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है। यह यथार्थ ज्ञान कैसे हो, इसी की मीमांसा न्यायशास्त्र में की गई है। न्यायदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार इस जगत् के मूल में परमाणु हैं, ईश्वर निमित्त कारण है जो अनुमानगम्य है। न्याय सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष में सुख और दुःख दोनों प्रकार की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। सब साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। दोष, संसार में प्रवृत्ति, जन्म तथा दुःख की उत्पत्ति मिथ्या ज्ञान के कारण होती है। मिथ्या ज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान से होता है। आत्मा की मिथ्याज्ञान-विहीन अवस्था का नाम ही मोक्ष या निःश्रेयस है।

वैशेषिक दर्शन :

न्याय और वैशेषिक दर्शनों में पारस्परिक बड़ी समानता है।

२. सत्य
३. अस्तेय
४. ब्रह्मचर्य और
५. अपरिग्रह

सब अंगों का विश्लेषण स्थानाभाव के कारण तथा लेख विस्तार के भय से यहाँ सम्भव नहीं है। इन आठ अंगों की प्रक्रिया को विधिवत् पालन करता हुआ आत्मा शनैः शनै विषय वासनाओं से निर्लिप्त होता हुआ रज प्रधान और तम प्रधान वृत्तियों से मुक्त हो जाता है। रज प्रधान और तम प्रधान वृत्तियों के कारण ही आत्मा को अनेक प्रकार के क्लेश भोगने पड़ते हैं। इन दो प्रकार की वृत्तियों के शान्त होते ही सत्व प्रधान विवेक की उत्पत्ति हो जाती है। इस विवेक की उत्पत्ति से आत्मा समस्त सम्बन्धों से मुक्त होकर अपने केवल चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसी का नाम योग दर्शन में मोक्ष है।

सांख्य दर्शन :

इस दर्शन में "प्रकृति" जिसे "प्रधान" भी कहते हैं और "पुरुष" जो वास्तव में "आत्मा" है उन दोनों के संयोग का नाम सृष्टि माना है और वियोग का नाम मुक्ति या मोक्ष है। इस दर्शन के अनुसार सारा संसार दुःख मय है। इस दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति केवल मात्र तत्वज्ञान से ही सम्भव है। यद्यपि पुरुष निरपेक्ष है फिर भी यह अज्ञान के कारण अपने को शरीरादि के बन्धन में फंसाकर अनेक प्रकार के क्लेशों से पीड़ित होता रहता है। वास्तव में सुख और दुःख मन और बुद्धि के धर्म हैं किन्तु अहंकार के वशीभूत हुआ पुरुष आत्मा, उनका आरोप अपने ऊपर कर लेता है। यही वास्तव में बन्धन है। विवेक ख्याति होने पर तत्वाभ्यास द्वारा कैवल्य ज्ञान का उदय होता है जिससे दुःखादि सब समाप्त हो जाते हैं। उस स्थिति में पुरुष को संसार के प्रति कोई अनुराग नहीं रह जाता। वह तो केवल मात्र संसार-चक्र का साक्षी या द्रष्टा मात्र रह जाता है। आत्मा की यही अवस्था सांख्य दर्शन में मुक्ति या कैवल्य कहलाती है। यह दो प्रकार की मानी गयी है : विवेक-ज्ञान के पश्चात् अहंकार-शून्य पुरुष जिस मुक्ति का अनुभव करता है वह जीव-मुक्ति है। शरीर त्याग के बाद जो मुक्ति मिलती है वह "विदेह-मुक्ति" कहलाती है।

उत्पन्न होते हैं। ज्ञान के द्वारा अविद्या के नष्ट होते ही सब दुःखों का अन्त हो जाता है।

ब्रह्म निःसन्देह निर्गुण है किन्तु यही निर्गुण ब्रह्म जब माया से उपहित हो जाता है तो सगुण परमेश्वर कहलाता है। यह सगुण ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण है। यही इस सारे सांसारिक प्रपंच का सृजनकर्त्ता, नियन्ता और हन्ता है।

बौद्ध दर्शन :

बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा और जगत् अनित्य है। संसार का प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील एवं नाशवान है। वस्तु की उत्पत्ति किसी कारण से होती है, यदि कारण नष्ट हो जाये तो वस्तु भी नष्ट हो जाती है। जो भी नित्य और स्थायी प्रतीत होता है वह सब नाशवान् है। जहाँ जन्म है वहाँ मरण भी है। इस प्रकार सारी सृष्टि प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन का ही परिणाम है। अणुओं के द्वयणुकादि संयोग द्वारा यह सृष्टि विकसित होती है और इसका क्रम चलता रहता है। बौद्ध दर्शन में पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये ही चार भूत माने हैं, आकाश की गणना भूतों में नहीं की। अणुओं के पृथक् होने से सृष्टि का प्रलय हो जाता है।

बुद्ध ने जरा, मरण और रोगादि से छुटकारा प्राप्त करने के लिए तपस्या का आश्रय लिया था। तपस्या द्वारा उन्हें बोधि ज्ञान की प्राप्ति हुई जिसका सार चार आर्य सत्यों में निहित है। वे चार आर्य सत्य हैं : (१) दुःख है। (२) दुःख का कारण है। (३) दुःख का निरोध है (४) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद अर्थात् साधन है। दुःखों से परिपूर्ण इस दुःखमान जगत् से निर्वाण पाने के लिए बौद्ध दर्शन में अष्टांगी मार्ग का पालन करने का बुद्ध ने उपदेश दिया है। वे आठ मार्ग हैं : सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि। इन मार्गों का अनुसरण करने से ही मानव में रहने वाली अविद्या और तृष्णा का नाश होता है, जीव को निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है, उसमें दृढ़ता आती है और उसे शान्ति मिलती है। इन्हीं उपायों द्वारा ही जीव के दुःखों का नाश होता है, उसे अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है और पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। इन सांसारिक दुःखों

की निवृत्ति को ही बौद्ध दर्शन में मोक्ष या निर्वाण कहा गया है।

जैन दर्शन :

जैन दर्शन में नव प्रकार के तत्व माने गये हैं। जो इस प्रकार हैं - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इन नवों तत्वों में जीव और अजीव दो द्रव्य है। चेतन द्रव्य को जीव

निमित गेहूं बाजार से लाते हैं। सर्वप्रथम उसका शोधन होता है। उसमें कंकर पत्थर जो हेय हैं उन्हें निकाल कर बाहर फेंक दिया जाता है और जो उपादेय गेहूं है उसे सम्भाल कर उपयोग के लिए रख लिया जाता है। सम्यक् ज्ञान की इस शक्ति द्वारा ही धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में सत्यासत्य का निर्णय किया जाता है।

सच्चा देव अरिहन्त भगवान् है, सच्चा गुरु निर्ग्रन्थ है, सच्चा धर्म प्राणी मात्र पर दया की भावना है—आदि मान्यताओं पर अडिग विश्वास रखना सम्यक् दर्शन है। दृढ़ विश्वास या दृढ़ श्रद्धा के अभाव में किसी भी वस्तु के उपयोग में प्रवृत्ति नहीं होती। यही कारण है कि आगमकारों ने दर्शन पर बड़ा महत्व दिया है। यहाँ तक कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति कदापि मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता :

दंसण भट्टो भट्टो
दसण भट्टस्स नत्थि निव्वाणं :

सम्यक् चारित्र का अर्थ है सत्य आचरण ! अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के नियमों का सच्ची निष्ठा में पालन करना ही सत्य आचरण कहलाता है। जो आत्मा जितनी ही राग-द्वेषादि विकारों से दूर रहेगी वह उतनी कम सांसारिक मोह-माया में प्रवृत्त होगी।

आत्मा में उत्पन्न होने वाली चचल विकृति राग-द्वेषादि के कारण ही होती है। राग द्वेष की निवृत्ति होते ही वीतराग की दशा प्राप्त हो जाती है तथा फिर आत्मा पूर्णरूपेण शुद्ध निष्कलंक और अपने वास्तविक स्वरूप या धर्म में पहुंच जाती है। जैन दर्शन में आत्मा की इसी अवस्था का नाम मोक्ष है।

१३. श्रीमान् फतेहचन्द जी कटारिया	बंगलोर	देवली कलां
१४. श्रीमान् भंवरलाल जी डूगरवाला	मद्रास	करमावास (मालिया)
१५. श्रीमान् पारसमल जी साखल	बेंगलोर	माडिया
१६. श्रीमान् मोतीलाल जी मुथा	बेंगलोर	रास
१७. श्रीमान् जुगराज जी बरमेचा	मद्रास	अटवडा
१८. श्रीमान् नथमल जी सिंघवी	मद्रास	सियाट
१९. श्रीमान् केवलचन्द जी बापना	मद्रास	आगेवा
२०. श्रीमान् रिखबचन्द जी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
२१. श्रीमान् मोहनलालजी कोठारी	तिरुचीपुरम्	विराटिया
२२. श्रीमान् भानीराम जी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
२३. श्रीमान् चादमल जी कोठारी	बंगलोर	रायपुर
२४. श्रीमान् धनराज जी बोहरा	बंगलोर	ब्यावर
२५. श्रीमान् जगलीमल जी भलगट	भंडारा	रीयां
२६. श्रीमान् भूमरमल जी भलगट	भंडारा	रीयां
२७. श्रीमान् हस्तीमल जी वणिगगोता	बेंगलोर	दामपा
२८. श्रीमान् रंगलाल जी राका	पट्टाभिराम	कुशालपुरा
२९. श्रीमान् प्राणजीवन भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३०. श्रीमान् रसिकलाल भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३१. श्रीमान् शान्तिलाल भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३२. श्रीमान् रजनीकान्त भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३३. श्रीमान् जवाहरलालजी बोहरा	रत्नागिरी	रीयां
३४. श्रीमान् हीरालाल जी बोहरा	गवर्नमेंटपेट	ब्यावर
३५. श्रीमान् जेवन्तराज जी नृणिया	मद्रास	चडावल
३६. श्रीमान् जवरचन्दजी बोथडिया	मद्रास	नागरा
३७. श्रीमान् पुखराज जी बोहरा	मद्रास	गन्दपुर
३८. श्रीमान् गजराज जी मेहता	मद्रास	गन्दपुर
३९. श्रीमान् मीठालाल जी बोहरा	मद्रास	गन्दपुर
४०. श्रीमान् भीखमचन्दजी गादिया	तिरुवेलोर	गन्दपुर
४१. श्रीमान् पारसमल जी बोहरा	तिरुवेलोर	गन्दपुर
४२. श्रीमान् घासीलाल जी बोहरा	मद्रास	गन्दपुर
४३. श्रीमान् भेरूलाल जी बोहरा	उत्कोटा	गन्दपुर

ग्रंथ परिचय

जैन, वैदिक एवं बौद्ध-इन तीनों भारतीय धर्मों की सांस्कृतिक विचार निर्झरिणियां चिरकाल से साथ-साथ बहती चली आ रही हैं। भारतीय वाङ्‌मय में इन तीनों का मौलिक चिन्तन, तात्विक विश्लेषण, सैद्धान्तिक विवेचन और आध्यात्मिक साधना का अपना-अपना पृथक स्थान है। इन तीनों में तारतम्य की दृष्टि से जैन-संस्कृति की सर्वमान्य, तर्कसंगत और विज्ञान की कसौटी पर परीक्षित तात्विक चिन्तनधारा का उत्कृष्टतम स्थान क्यों है—इस प्रश्न का समाधान—इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों की आध्यात्मिक-जीवन की अन्तिम सोपान पर पहुंच के लिए महनीयता, उपादेयता और अधिगमनीयता के चित्रण ने इस ग्रन्थ में साकारता ग्रहण की है। भगवान् महावीर से लेकर अठारवीं शताब्दी तक पूंजीवाद जैसी अर्थमूलक शोषण-पद्धति का जन्म नहीं हुआ था। इसी शोषण-पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद का जन्म हुआ। श्रमण-संस्कृति का अपरिग्रहवाद उक्त दोनों वादों का ही दूसरा नाम है। साम्यमूलक अपरिग्रहवाद का ग्रन्थ में वैज्ञानिक विश्लेषण मनीषी सन्त लेखक की लेखनी की अनुपम विलक्षणता है। जैनधर्म में पाप-पुण्य की व्यवस्था का प्रमाणिक एवं वास्तविक सिद्धान्त कर्मवाद के आधार पर किया गया है। पुनर्जन्म, मृत्यु, मोक्ष आदि जीवन की घटनाओं की संगति कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही प्रतिपादित की है। जैनधर्म का कर्मसिद्धान्त आत्मा की स्वतन्त्रता का, सर्वज्ञत्व सम्पन्नता का, स्व-पुरुषार्थ का और स्व की परिपूर्णता का ही परिचायक नहीं किन्तु इस रहस्य का भी उद्घाटन करने वाला है कि आत्मा का अन्तिम ध्येय ईश्वरत्व की प्राप्ति है। श्रमण संस्कृति के कर्म सिद्धान्त को ग्रन्थ में बड़ी ही सारगर्भित समास शैली में विवेचित किया गया है। जैनेतर शास्त्रों के उद्धरण ग्रन्थ की ओर भी चार चांद लगाने वाले हैं। गत तीन हजार वर्षों में विश्व के साहित्य प्रांगण में आत्म-तत्त्व, ईश्वरवाद और सृष्टिसर्जन जैसे विषयों को लेकर अनेक तत्त्वचिन्तक-दार्शनिकों ने गम्भीर मनन, चिन्तन और अनुसन्धान किया है। जैन दर्शन ईश्वर को नहीं किन्तु ईश्वरत्व को उत्कृष्टतम ध्येय मानता है। इसकी मान्यता है कि सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता नियामक और हर्त्ता कोई ईश्वरीय सत्ता नहीं किन्तु सृष्टि-प्रक्रिया स्वाभाविक है। सृष्टिसर्जन जैसे जटिल विषय का विवेचन ग्रन्थ में बड़े ही सारगर्भित एवं मनन चिन्तन योग्य शब्दों में किया है। तत्त्व के यथार्थ बोध का उत्पादक [illegible] और [illegible] की वृत्तियों का निराकरण करके पवित्र—ये तीनों जैन धर्म में 'रत्नत्रय' के नाम से जाने जाते हैं। इनको जीवन में उतारने से आत्मा किस प्रकार आत्म विकास की चरम सीमा-मोक्ष की मंजिल पर आरूढ़ हो जाता है—इस आध्यात्मिक तत्त्व का बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। अन्य दर्शनों में मोक्ष के अस्तित्व स्वरूप के विश्लेषण में जैनदर्शन के दृष्टिकोण एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का दिग्दर्शन भी ग्रन्थ की महत्ता को बढ़ाने वाला है।